"महाभारत महाकाव्य में नीति एवं आचार"

(बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय की पी-एच.डी. उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)
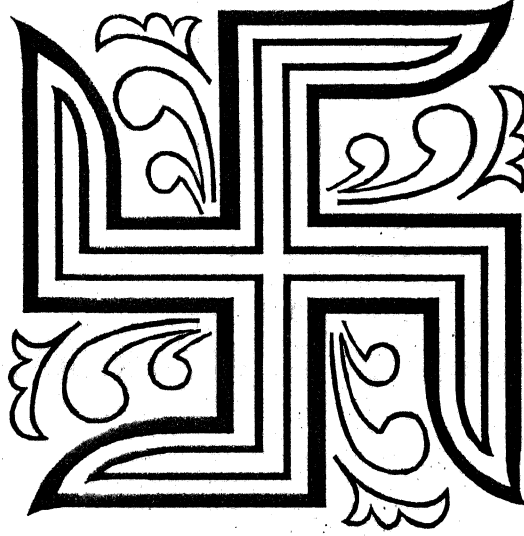
वर्ष- २००६

शोध पर्यवेक्षक-
- **डॉ. गदाधर त्रिपाठी**
अध्यक्षः- संस्कृत विभाग
श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मऊरानीपुर (झाँसी) उ० प्र०

शोधार्थिनी-
कु० दीपा शर्मा
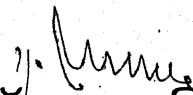
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि कु0 दीपा शर्मा ने *"महाभारत महाकाव्य में नीति एवं आचार"* शीर्षक से संस्कृत विषय में पी-एच.डी. उपाधि प्राप्ति हेतु मेरे निर्देशन में निर्धारित अवधि तक रहकर कार्य किया है। इनका यह कार्य इनकी मौलिक कृति है जो इनकी शोध दृष्टि की परिचायक है।

मैं इस शोध प्रबन्ध को प्रस्तुत करने की संस्तुति के साथ इनकी सफलता की कामना करता हूं।

- डॉ. गदाधर त्रिपाठी

अध्यक्षः- संस्कृत विभाग

श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय

मऊरानीपुर (झाँसी) उ0 प्र0

वर्ष- २००६

-: प्रस्तावना :-

जिस प्रकार भगवान शिव ने श्री रामचरित मानस को रचकर अपने मन में रखा था, उसी प्रकार कृष्ण द्वैपायन महर्षि व्यास ने बदरिकाश्रम में ध्यान मग्न होकर अपने हृदय में महाभारत की रचना कर ली थी। उसके पश्चात् उन्होंने ब्रह्मा जी से कहा कि मैंने सब वैदिक ग्रन्थों का मंथन करके गुप्त रहस्य एवं अत्यन्त पूजित महाकाव्य की रचना अपने हृदय में की है, तत्पश्चात् ब्रह्मा जी के निर्देश पर गणेश जी लेखक बनकर इस महाकाव्य का प्राकट्य करते हैं।

इस प्रकार एक महाभारत तो कुरुक्षेत्र में लड़ा गया जो उतना कठोर और मनुष्य का अन्तिम युद्ध नहीं था। अंतिम युद्ध तो अपने आप से लड़ना है। जैसा कि महाभारत में कहा गया है–

यत्र नैव शरैः कार्यं न भृत्यैर्न च बन्धुभिः।

आत्मनैकेन योधव्यं तत् ते युद्धमुपस्थितम्।। (महा. 14/12/15)

अर्थात्– मन के साथ होने वाले इस युद्ध में न तो बाणों का काम है और न सेवकों तथा बन्धु बान्धवों का ही। इस समय इसमें आपको अकेले ही युद्ध करना है, और वह युद्ध उपस्थित है।

महाभारत का अनुशीलन करने के लिए एक दृष्टि होनी चाहिए। वह है–अन्तर दृष्टि, क्योंकि जिसे हम पराया समझते हैं, उससे लड़ना आसान है। सबसे कठिन अपने मोह से लड़ना है। यही महाभारत का रहस्य है।

इस प्रकार महाभारत का अध्ययन जीवन जीने की कला के रूप में करना चाहिए। अपने शरीर के अन्दर के शत्रुओं का दमन करते हुए अपना अंतः परिष्कृत रखना चाहिए।

भेदभाव स्वार्थ हल कपट से दूर रहकर अपना चिंतन 'आत्मैव सर्व भूतेषु' रखते हुए व्यवहार करना चाहिए। यहीं महाभारत का उद्देश्य एवं रहस्य है।

'पूना शोध संस्थान' के अनुसार जैसे वेदों का सार गायत्रीं मंत्र या सावित्रीं है, वैसे हीं सम्पूर्ण महाभारत का सार धर्म शब्द में है। भारत की युद्ध कथा तो निमित्त मात्र है, इसके बाद महाभारत के मनीषीं की युद्ध कथा को धर्म संहिता के रूप में परिवर्तित कर दिया था। धर्म की नित्य महिमा को बताने के लिए ग्रन्थ के अन्त में यह श्लोक है–

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मत्येजेज्जीवितास्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये नित्यो जीवो धातुरस्य त्वनित्यः।।

(स्वर्गा. 5/63, उद्यो. 40/11,12)

अर्थात् काम से, भय से, लोभ से अथवा प्राणों के लिए भी धर्म को छोड़ना उचित नहीं। धर्म नित्य है, सुख और दुःख क्षणिक हैं। जीवनित्य है और शरीर अनित्य है।

जिस प्रकार समुद्र और हिमालय रत्नों की खान है, उसी प्रकार यह महाभारत है। जो इसमें है, वहीं अन्यत्र है, जो इसमें नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं है। इसलिए ये पंचम वेद के रूप में प्रतिष्ठित है यह महर्षि व्यास का वाड्मय रूपीं अमृत मनुष्य को अमर बना जाता है।

महर्षि कृष्णद्वैपायन का श्रेष्ठ आख्यान विलक्षण शब्द भंडार से भरा है। भारत के इतिहास और पुराण की ब्राह्मी संहिता का ही नाम महाभारत है। जो एक विलक्षण रचना है, जिसमें वेद और लोक का अद्भुत समन्वय है। महाभारत इस देश की राष्ट्रीय ज्ञान संहिता का अमरकोष है।

इस प्रकार महाभारत जनता के समक्ष यह संदेश देता है कि अपने मन शरीर के दुर्गुणों को समाप्त कर समाज ओर देश के स्तर पर अभियान चलाना चाहिए, जिससे देश का स्तर गौरव और आत्म सम्मान बढ़ेगा। यथा 'अपना–अपना करो सुधार तभीं मिटेगार भ्रष्टाचार' क्योंकि जब अपने विचार आचरण को पवित्र रखेंगे तो समाज और देश भी प्रगति के पथ पर होगा।

संस्कृत साहित्य के प्रति मेरी विशेष उत्सुकता रही है। वंश परम्परा का प्रभाव तथा पिछले संस्कार वश संस्कृत साहित्य में एम. ए. करने के पश्चात् भी देववाणी के प्रति कुछ करने की भावना रहती है। अस्तु 'श्री महाभारत महाकाव्य में नीति एवं आचार' विषय को चुना क्योंकि महाभारत ज्ञान का भंडार है, और रत्नों की खान है। सागर की भाँति जो जितनी गहराई में डुबकी लगाता है। उसे उतने ही मूल्यवान् रत्न प्राप्त होते हैं।

इसका यह महत्व और भी बढ़ जाता है क्योंकि हमारे समाज में लोग इस महाकाव्य को अपने घरों में रखना शुभ नहीं मानते तो इसको पढ़ना तो दूर की बात है। कुछ लोगों का मानना है कि इसको पढ़ने से अनिष्ट होता है, किन्तु यह एक भारी बिडम्बना ही है। इसका निराकरण भीं आवश्यक है। अतः इसे पढ़ने की एक दृष्टि और हृदय चाहिए।

इस शोध प्रबन्ध का विषय प्रवेश, महाभारत एवं उसका महाकाव्यीय स्वरूप, नीति एवं आचार के विविध सन्दर्भ, महाभारत महाकाव्य की सामाजिक व्यवस्था तथा नैतिक व आचारात्मक दृष्टि से पारिवारिक संगठन, लोक व्यवहार, महाभारत का राजनैतिक व आर्थिक परिदृश्य तथा महाभारत का धार्मिक स्वरूप इन पाँचों अध्यायों में विभक्त है।

उपरिलिखित मन्तव्य को आगे बढ़ाने में देववाणी के अप्रतिम विद्वान् देवतुल्य व्यक्तित्व, भारतीय संस्कृति के पोषक एवं संस्कृत भाषा के मनीषी गुरुदेव डॉ. गदाधर त्रिपाठी जी के प्रति जितना विनम्र आभार व्यक्त करूँ वह कम ही है क्योंकि सारा श्रेय इन्हीं महान विभूति को है। जिनके कुशल संरक्षण एवं निर्देशन में यह शोध प्रबन्ध पूरा हो सका। इस कार्य हेतु मेरे अनुरोध पर हमेशा हर तरह से मार्ग दर्शन करके यह क्रम पूरा करवाया।

इसी तारतम्य में अखिल विश्व गायत्री परिवार के संस्थापक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ श्रीराम शर्मा आचार्य द्वारा विरचित वाङ्मय ग्रंथागार जो अखण्ड ज्योति मासिक पत्रिका के माध्यम से प्राप्त होता रहा। मैं उनको सादर नमन व आभार प्रेषित करती हूँ।

इसी क्रम में महामहिम श्री विद्याभूषण द्विवेदी एवं उनके शिष्य मेरे चाचा श्री चन्द्रशेखर शास्त्री जी द्वारा इस कार्य हेतु दुलर्भ सामग्री उपलब्ध करायी, मैं हृदय से उनका आभार व्यक्त करती हूँ।

इसी क्रम में अपनी अध्ययनकालीन गुरु डॉ. अंजु दत्त का भी स्मरण तथा आभार व्यक्त करना चाहूँगी जिनकी विद्वता ने मुझे शोध कार्य की प्रेरणा दी।

इसके पश्चात् में अपने पूज्यपिता जी श्रीयुत् रामअवतार शर्मा को भी स्मरण करना चाहूंगी, जिनका अधिकांश समय अध्ययन व पुस्तकों की रचनाओं में व्यतीत होता है तथा वे स्वयं संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का अध्ययन कर चुके हैं, उनका यह गहन अध्ययन व रचनात्मक दृष्टिकोण मुझे अध्ययनशील रहने के लिए सदा ही प्रेरित करता रहा है।

मेरी माता श्रीमति आशा शर्मा का भी मैं उल्लेख करना चाहूंगी जो सदैव मेरे अध्ययन व पठन–पाठन में सहयोग करती रहीं। मेरे बड़े भाई श्री संजीवकुमार शर्मा एवं भाभी श्रीमती श्रद्धा शर्मा को भी मैं नमन करती हूं जिन्होंने सदैव ही मेरा मार्ग प्रशस्त किया तथा शोध के लिए प्रेरित किया। मेरा छोटा भाई प्रभातकुमार शर्मा का भी नामोल्लेख करना चाहूंगी जो समय–समय पर मेरी सहायता करता रहा।

शोधग्रन्थ को पूरा करने का तनिक भी अभिमान मन में नहीं है क्योंकि संस्कृत के उत्कृष्ट टीकाकार मल्लिनाथ ने कहा है– ''नामूलं लिख्यते किञ्चित्'' अर्थात् कुछ भी सर्वथा मौलिक नहीं कहा जा सकता लेकिन वह यह भी कहते हैं– ''नानपेक्षितमुच्यते'' अर्थात् लिखा गया अनपेक्षित भी नहीं है, इसलिए हम अपेक्षित इस शोधग्रन्थ को प्रस्तुत करने का समाधान अवश्य हैं।

दीपाशर्मा

–दीपा शर्मा

ग्रन्थ संकेत–सूची

१.	अथर्व (१)	अथर्ववेद (खण्ड प्रथम)
२.	अथर्व (२)	अथर्ववेद (खण्ड द्वितीय)
३.	आ.गृ.सू.	आश्वलायन गृह्यसूत्र
४.	आ.सू.	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
५.	इ.रि.वे.था.	ईस्टर्न रिलीजन एण्ड पेस्टर्नथॉट
६.	ई.द्वा.उ.	ईशादि द्वादशोपनिषद
७.	उ.स्मृ.	उशना स्मृति
८.	उ.स.सं.	उपनिषद् कालीन समाज एवं संस्कृति
९.	ऋग वे.	ऋग्वेदम्
१०.	ए. वि. ओ. आई.	
११.	ए.मै.ए.	ए मैनुअल ऑफ इण्डिया
१२.	ए.हि.सं.लि	ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर
१३.	क. उ.	कठोपनिषद्
१४.	का. क.	कादम्बरी कथा मुखम
१५.	कू.पु.	कूर्म पुराणांक
१६.	कौ. अ.	कौटिल्य अर्थशास्त्र
१७.	गो. ब्रा.	गोपथ ब्राह्मण
१८.	छा. उ.	छान्दोग्योपनिषद

१६. छान्दो. छान्दोग्योपनिषद

२०. ज.रा.ए.सो. जनरल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी पत्र

२१. तै. आ. तैत्रीय आरण्यक

२२. ग्रे.ए.इ. द ग्रेट एपिक ऑफ इण्डिया

२३. निरूक्त निरूक्त

२४. नी.द. नीति दर्शन की पूर्व पीठिका

२५. पा. यो. प्र. पातञ्जल योग प्रदीप

२६. प्रा. आ. प्रारम्भिक आचार शास्त्र

२७. ब्र. वै. ब्रह्मवैवर्त पुराण

२८. ब्र. पु. सा. ब्रह्मवैवर्तपुराण सांस्कृतिक विवेचना

२६. बृहदा. बृहदारण्यकोपनिषद

३०. बृ. स्मृ. वृहस्पति स्मृति

३१. बो. ध. सू. बौधायन धर्मसूत्र

३२. भ. गी. भगवद्गीता

३३. भा. नी. भारतीय नीतिशास्त्र

३४. भा. नी. वि. भारतीय नीति का विकास

३५. म. पु. मत्स्य पुराण

३६. म. स्मृ. — मनु स्मृति

३७. महा. — महाभारत हिन्दी टीका सहित

३८. म. भा. शा. — महाभारत में शान्तिपर्व का आलोचनात्मक अध्ययन

३९. मी. प्र. — मीमांसा प्रमेय

४०. मु. उ. — मुण्डकोपनिषद

४१. मै. ए. — मैनुअल ऑफ एथिक्स

४२. याज्ञ. स्मृ. — याज्ञवल्क्य स्मृति

४३. याज्ञ. स्मृ. २ — याज्ञवल्क्य स्मृति

४४. ला. डि. — द लाइफ डिवाइन

४५. व्या. स्मृ. — व्यास स्मृति

४६. व. ध. — वशिष्ठ धर्मसूत्र

४७. वा. रा. — वाल्मीकि रामायण

४८. श. ब्रा. — शतपथ ब्राह्मण

४९. शु. नी. — शुक्रनीति

५०. शु. नी. सा. — शुक्रनीति सार

५१. स. प्र. — सत्यार्थ प्रकाश

५२. सं. श. कौ. — संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ

५३. हि. वि. १	हिन्दी विश्व कोश प्रथम खण्ड
५४. हि. स.	हिन्दू सभ्यता
५५. हि. ध. २	हिन्दू धर्म भाग- २
५६. हि. इ. लि.	हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर
५७. कृ. औ. मा. सं.	कृष्ण और मानव सम्बन्ध
५८. आ. महा.	ओड़िया महाभारत
५९. गी. रह.	गीता रहस्य
६०. रघु. महा.	रघुवंश महाकाव्य
६१. महा. गू. रह.	महाभारत के गूढ़ रहस्य
६२. सं. महा. पं.	संस्कृत महाकाव्य की परम्परा
६३. सं. सहि. समी. इति.	संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास
६४. सं. सा. इति.	संस्कृत साहित्य का इतिहास
६५. महा. मी.	महाभारत मीमांसा
६६. महा.	महाभारत
६७. भा. ज्यो.	भारतीय ज्योतिष
६८. कृ. आ.	कृष्ण की आत्मकथा
६९. महा. ता. नि.	महाभारत तात्पर्य निर्णय
७०. भा. सावि.	भारत- सावित्री

अनुक्रमणिका

"महाभारत महाकाव्य में नीति एवं आचार"

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

(ब) नैतिक तथा आचारात्मक दृष्टि से पारिवारिक संगठन-
माता-पिता, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नि, गुरु-शिष्य
तथा अन्य सम्बन्धी

(स) लोक-व्यवहार के वैयक्तिक एवं आचारात्मक सूत्र-
करूणा, मैत्री, हठ, ईर्ष्या, क्रोध, लोभ, शरीर, मन
आत्मा की नैतिक स्थिति

चतुर्थ अध्याय

(अ) महाभारत का राजनैतिक तथा आर्थिक परिदृश्य
(ब) शासक वर्ग
(स) राजा और उसके गुणदोष
(द) राजा तथा प्रजा का नीति एवं आचारपरक स्वरूप
(य) आर्थिक परिदृश्य जीवकोपार्जन के साधन
(र) कृषि, पशु, पालन, उद्योगादि
(ल) राजनैतिक तथा अर्थनीति का सामंजस्य

पंचम अध्याय

(अ) महाभारत का धार्मिक स्वरूप
(ब) सामान्य धर्म
(स) विशेष धर्म
(द) आश्रम धर्म
(य) लोकधर्म और परलोक धर्म
(र) धर्म, नीति और आचार का समन्वय
(ल) निष्कर्ष एवं समीक्षा

प्रथम अध्याय

अ. विषय प्रवेश।

ब. महाकाव्य की परम्परा के प्रारम्भिक संकेत।

स. महाभारत का महाकाव्यीय स्वरूप।

द. महाभारत का रचनाकाल और रचयिता।

य. महाभारत की रचना का उद्देश्य और इसकी सार्थकता।
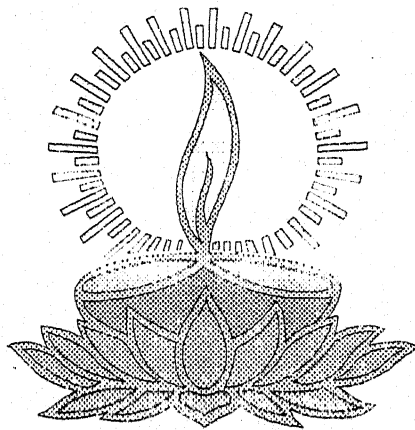
प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश –

वाल्मीकि रामायण एवं महाभारत से ही संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ है। महाभारत महाकाव्य भारत की ज्ञान विरासत का विश्वकोश है। भारत के ज्ञानमना महामनस्वियों द्वारा युग-युगों से सुचिंतित जीवन की सर्वाङ्गीण व्याख्या का एक मात्र प्रतिनिधि ग्रन्थ महाभारत है। यह एक ऐसा महासागर है, जिसमें असंख्य ज्ञान सरिताएँ मिलकर एक प्राण हो चुकी हैं, जिससे सचमुच मानना पड़ता है कि जो कुछ इसमें नहीं है वह इस धरती पर कहीं भी नहीं है।[१]

महाभारत में धर्मसम्मत संस्कारों, वर्णाश्रम, धर्म, पारिवारिक जीवन नारी की श्रेष्ठता, अतिथि सेवा, सदाचार, सामाजिक व्यवहार, शिक्षा आचार, शिल्प, कला, प्रसाधन और दया, दाक्षिण्य, क्षमा, श्रद्धा, दान, धर्म, सत्य, उपासना आदि मानव जीवन के उदात्त आदर्शों एवं आचरणों का निरूपण हुआ है।

इसमें कृषि, पशुपालन, वाणिज्य व्यवसाय आदि तत्कालीन आर्थिक-प्रगति के अतिरिक्त आयुर्वेद, ज्योतिष, व्याकरण, संगीत, आन्वीक्षिकी, योग, मीमांसा और वेदान्त आदि विद्याओं का भी सम्यक् विवेचन हुआ है।

महाभारत महाकाव्य भारत की उज्ज्वल ज्ञान परम्परा का एक मात्र अमर स्मारक है। वैदिक और लौकिक युगों के संघर्षमय काल में उनके अधिकारों का परिसीमन करने के लिए 'महाभारत' एक संधिपत्र के समान है, जिसमें वैदिक और लौकिक दोनों युगों के प्रतिनिधि मनिस्वियों के हस्ताक्षरों की मुहर है।

---

1. यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित्। महा.– 1/2/390

महाभारत कालीन संस्कृति का आधार विशाल मानवता है। उसके पात्रों में सर्वत्र मानव आदर्श निहित है। उनकी अच्छाईयों बुराईयों, उनके शुभ पक्ष और अशुभ पक्ष में सर्वत्र इसी मानवता का भाव अन्तर्निहित है।

'महाभारत' में यद्यपि कौरव पाण्डवों के महायुद्ध का आख्यान वर्णित है, तथापि उसकी परणति मानव जीवन की स्थायी व्यवस्था में हुई है। इसलिए उसे शान्त रस का ग्रन्थ कहा गया है।

उसकी वस्तु स्थिति को स्पष्ट करते हुए स्वयं उसके निर्माता ने कहा है मनुष्य चारों वेद उसके अंग और उपनिषद् विद्या में भले ही पारंगत हो किन्तु जो इस आख्यान को नहीं जानता है, उसे विलक्षण नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ये महान आख्यान एक साथ ही अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और काव्यशास्त्र भी हैं।[1]

इसलिए जिस मनुष्य को यह आख्यान रुच गया, उसकी दृष्टि में दूसरे आख्यान वैसे ही सूखे एवं नीरस हैं, जैसे कोकिल की मधुरवाणी के सामने कौए के कर्कश बोल।[2]

महाभारत की संस्कृति धर्म पर आधारित है। प्रत्येक सामाजिक के लिए धर्माचरण आवश्यक बताया गया है। श्रुति-स्मृति जिन आचरणों का विधान करती है उनका परिपालन ही धर्माचरण है। धर्माचरण न केवल इस लोक, अपितु परलोक के लिए भी कल्याणकारी है।[3]वही मोक्ष का कारण है उसके अनेक अवान्तर भेद हैं, यथा युगधर्म, देशधर्म,

---

1. यो विद्याच्चतुरो वेदान्साङ्गोपनिषद् द्विजः।
न चाख्यान मिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः।।
अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना।। महा.-आदि पर्व-अध्याय-2
2. श्रुत्वा स्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यत्र रोचते।
पुंस्कोकिलगिरं श्रुत्वा रुक्षा ध्वांक्षस्य वागिव।। महा.- 1/2/84
3. महा.-12/142/19

जाति-धर्म और कुल-धर्म आदि। धर्म के लिए सत्याचरण आवश्यक है। उससे जीवन में सद्गुणों का उदय होता है। सत्य का फल अश्वमेघ यज्ञ से भी बढ़कर है।[1]

धर्म पर आधारित न्याय और शासन ही महाभारतकालीन समाज व्यवस्था का अंग था। उसे ही राजधर्म कहा गया है। अराजक समाज में धर्माचरण सम्भव नहीं है, ऐसे राज्य में मत्स्य न्याय व्याप्त होता है। इसलिए राजा का प्रमुख धर्म होता था समाज की सुव्यवस्था और प्रजा की रक्षा।

महाभारतकालीन समाज में संयुक्त परिवार ही पारिवारिक उन्नति का कारण माना गया है। मातृ-पितृ सेवा, गुरूजनों एवं आचार्यों का आदर पारिवारिक कर्त्तव्य संहिता का अंग था।

भाई-बहनों की ज्येष्ठता कनिष्ठता के क्रम से उनमें प्रति व आदर व्यवहार करना, गृहस्थ जीवन में अतिथि सेवा परिवारजनों का सामान्य नियम था।

समाज तथा परिवार में विकास के लिए विवाह का नियम था। महाभारत में भी स्मृति प्रोक्त आठ विवाहों को ही धर्म सम्मत माना गया है। समाज में अनुलोम विवाह धर्म सम्मत था। सतीत्व को परम आदर्श माना जाता था। सावित्री, दमयन्ती, शकुन्तला, गांधारी, द्रौपदी, सत्यभामा और सुभद्रा आदि नारियों के चरित्र अविस्मरणीय उदाहरण हैं।

कालान्तर में महाभारत का महत्व न केवल कौरव पाण्डव के युद्ध तक ही सीमित रहा है, वरन् वह भारतीय जीवन का एक ऐसा विश्वकोश बन गया है जिसमें अनायास ही दर्शन, धर्म, इतिहास, पुराण, स्मृति और काव्य प्रभृति विषयों का भी समावेश हो गया।

---

1. महा. आ.प.-74/103/106

महाकाव्य की परम्परा के प्रारम्भिक संकेत-

महाकाव्य यह एक सामाजिक शब्द है। यह महत् और काव्य इन दो शब्दों के समास से बना है। इस सामाजिक महाकाव्य शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम वाल्मीकि रामायण के उत्तर काण्ड में हुआ है। जिसमें उल्लेख है कि यह काव्य कितना बड़ा है और महाकाव्य की क्या प्रतिष्ठा है। महत् काव्य के रचयिता को श्रेष्ठ मुनि कहा है। इस विवरण में 'कर्त्ता काव्यस्य महतः' इसी महत् और काव्य के योग से बने हुए महाकाव्य शब्द की ओर संकेत करते हैं।[१]

महाभारत में भी यत्र-तत्र ऐसे अनेक विशेषण प्रयुक्त हैं जिनसे महाकाव्य की कल्पना आ जाती है। सर्वप्रथम व्यास जी ने ब्रह्मदेव से निवेदन किया कि मैंने श्रेष्ठ काव्य की रचना की है, जिसमें वेदों, शास्त्रों इतिहास और पुराणों का रहस्य भरा है, जिसमें पुरुषार्थ चतुष्टय, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से मोक्षरूप पुरुषार्थ एवं शान्त रस को मुख्य रूप से सूचित किया है।[२] इसके प्रत्युत्तर में ब्रह्मदेव ने व्यास जी से कहा कि ऐसे श्रेष्ठ काव्य को पृथ्वी पर लिखवाने के लिए गणेश जी जैसे श्रेष्ठ लेखक आवश्यक हैं। इस प्रकार श्रेष्ठ कर्त्ता, विषय वाह्यांगवर्णन एवं लक्ष्य की ओर संकेत करते हुए इन शब्दों का प्रयोग किया है।[३]

---

1. किम्प्रमाणमिदं काव्यं का प्रतिष्ठा महात्मनः।
   कर्त्ता काव्यस्य महतः क्वचासौ मुनिपुगवः।। वा. रा.-7/94/23
2. कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम्।
   ब्रह्मन वेद रहस्यं च यच्चान्यत् स्थापितं मया।
   इतिहास पुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत्।
   काव्यस्य लेखानार्थाय गणेशः स्मर्यतां मुने।
   महा. आदि प.-अनुक्रमणिका प्रथम अध्याय
3. अलंकृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषैः।
   छन्दो वृतैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम्।। महा.- 1/1/128

अतः 'महत्वाद् भारतत्वाच्च महाभारत उच्यते' अर्थात् महत्ता गंभीरता अथवा भार की विशेषता से ही इस काव्य को महाभारत कहते हैं।[१]

प्रारम्भिक या आर्ष महाकाव्यों के मूल स्रोतों का शोध, मानव जाति के प्रारम्भिक साहित्य रूप और उसके सामाजिक इतिहास से हुआ है। अतः उसके प्राचीनतम साहित्य में निहित जिन तत्वों तथा समाज की जिस अवस्था विशेष से महाकाव्य का उद्भव व विकास हुआ, हम सर्वप्रथम उस समाज को विकसित करने वाले विभिन्न युगों को संक्षेप में देखते हैं। मानव समाज के विकास की तीन अवस्थाओं का उल्लेख विद्वानों ने किया है-

१. कबीला युग २. सामन्त युग ३. राष्ट्र युग

समाज शास्त्रियों एवं नृतृत्व वेत्ताओं का अनुमान है कि पहले युग में प्राचीन मानव का जीवन अस्थिर था। वह निवासार्थ एवं आजीविका के लिए सदा नवीन प्रदेशों के शोध में यत्र तत्र घूमता रहता था। 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' उसके जीवन का मार्गदर्शक था। 'बलवती खलु नियतिः' में विश्वास करने वाला मानव जीवन उस समय सामूहिक भावना से प्रेरित था।[१]

इसलिए उसके कार्यों में, उसकी गति में, वंशीय, संघीय भावना की एक सूत्रता थी। जीवन में व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि को, एकांकी वृत्ति की अपेक्षा संघवृत्ति का प्राधान्य था। टोलियों में रहने वाला मानव वृद्ध अनुभवी व्यक्ति को केन्द्र बनाकर रहता था, और कभी-कभी अपने स्वार्थ में बाधा पहुँचाने वाली दूसरी टोली के साथ संघर्ष भी करता था। व्यक्तिगत संपत्ति और व्यष्टि भावना का उदय नहीं हुआ था। छोटे-छोटे कवीलों में रहने वाला तत्कालीन मानव समाज की एक छोटी प्रतिमा रूप में था।

---

1. सं. म. पं.- पृ. 127

यही सृष्टि प्रधान आदि मानव का रूप था। इस जन समूह युग की दोनों अवस्थायें कितनी लम्बी रहीं होगी नहीं कहा जा सकता किन्तु सामूहिक भावना पूर्वावस्था से उत्तर अवस्था में ही अधिक दृढ़ हुई होगी।

मानव समाज के विकास के साथ विभिन्न कारणों के परिणाम स्वरूप कृषियुग का उदय हुआ। इस कृषि युग को सामन्त युग भी कहा जाता है। इसकी तीन अवस्थायें मानी जाती हैं।[१]

प्रारम्भिक, मध्य, अन्तिम या उत्तर।

उपरिलिखित इन तीनों अवस्थाओं को हम, भारतवर्ष में वैदिक काल से लेकर १६ वीं शती तक की दीर्घ समयावधि में फैला पाते हैं। इन तीनों अवस्थाओं ने महाकाव्य के रूप को जन्म दिया। महाकाव्य की सामग्री इस युग के आदिकाल में उद्भूत होकर मध्यकाल में विकसित हुई और मध्यकाल में ही महाकाव्य के रूप में दिखाई देने लगी। इस युग में तृतीय काल में ही, यह अलंकृत महाकाव्य के रूप में परिणत हुई।[२]

इसी सामन्तयुग में विविध कारणों से वर्तमान आर्यभाषाओं का विकास होने से विकसन शील और उत्कृष्ट अलंकृत महाकाव्यों की रचना हुई।[३]

---

1. सं. महा. पं.– पृ. 12–13।
2. सं साहि. इति.– पृ0 709
3. सं. साहित्य इति.– पृ0 132–133।

समाजशास्त्रियों के मत में मानव के सामूहिक नृत्य गीतों में ही उसकी धार्मिक क्रियायें निहित थीं। इष्ट देवी देवता या पितरों के सम्बन्ध में अपने मनोगतों की अभिव्यक्ति के लिए वे एकत्र हो सामूहिक रूप से नृत्यगान करते थे।

किन्तु गच्छताकालेन् इन सामूहिक नृत्यगीतों में अर्थपूर्ण भाषा के प्रयोग के साथ-साथ उनके देवताओं एवं पितरों के कृत्यों पराक्रमों के सम्बन्ध में अनेक कल्पनाओं का उदय हुआ। कथा सूत्र से गीत ग्रथित होने लगे। आदि मानव ने प्राकृतिक शक्तियों में देवी-देवताओं की कल्पना की। इस प्रकार सामूहिक नृत्यगीतों में आख्यान एवं दन्तकथा का सूत्र भी आबद्ध किया गया। स्पष्ट रूप से इसमें महाकाव्यों का बीज निहित था। किसी भी देश के मानव को निसर्ग और मानवी जीवन से प्राप्त प्रथम अनुभव का कथात्मक एवं कल्पना रम्य चित्रण ही उस देश के महाकाव्य है।[१]

वेद सूक्त प्रधान रूप से देवाराधनात्मक होने पर भी कुछ सूक्त संवादात्मक एवं स्तुत्यंगों से परिपूर्ण हैं। इनमें राजदानतृप्त ऋषियों ने प्रभूत दान देने वाले अपने आश्रयदाताओं का गुणानुवाद किया है। ये सूक्त स्तुतिपूर्ण होने से दान स्तुति के नाम से अभिहित किये जाते हैं। वेदों में इन सूक्तों की संख्या अधिक नहीं है। ऋग्वेद में भी संवाद-सूक्त का उल्लेख मिलता है। जिनमें संवाद रूप में २० सूक्त हैं जिसमें यम-यमी संवाद (१०/११), पुरूरवा-उर्वशी सम्वाद (१०/९५), सरमा-प्रणिस संबाद (१०/१३०), इन्द्र वरूण संवाद (४/४२), वरूण अग्नि संवाद (१०/५१), इन्द्र-इन्द्राणी संवाद (१०/८६) आदि प्रमुख हैं। ये संवादात्मक सूक्त ही आख्यान कहलाते हैं।[२]

---

1. सं. महा. पं.– पृ. 98
2. सं. सा. इति. पृ0 43, 44

निरुक्त में यास्क ने भी पुरूरवोर्वशी तथा सरमापाणिस् 'संवादों' को आख्यान ही कहा है।[1]

इन्हीं संवादों का विकसित रूप परवर्ती नाटक साहित्य में दिखाई देता है। कालिदास का विक्रमोर्वशीय नाटक पुरूरवोर्वशी संवाद का ही विकसित एवं पल्लवित रूप है। इन्हीं संवादात्मक आख्यान सूक्तों में परवर्ती महाकाव्य के बीज सन्निहित है। इन संवादों में प्राप्त होने वाले आख्यानों को प्रारम्भ में गाथा, नाराशंसी कहा जाता था। अथर्ववेद में भी कुछ सूक्त स्तुति विषयक है जिनमें राजाओं के वीरोदारतादि गुणों का रोचक कथन है। इन्हें 'कुन्तापसूक्त' कहकर अभिहित किया गया है। अथर्ववेद में गाथा और नाराशंसी का नाम इतिहास और पुराण के साथ प्रयुक्त है।[2]

शतपथ ब्राह्मण में आये हुए पारिप्लव आख्यान से विदित होता है कि अश्वमध यज्ञ में कला प्रदर्शन के अवसर पर किसी राजा के दान वीरतादि गुणों का गान किया जाता था। अद्धवर्यु होता से कहता था कि इस राजा की अन्यों की अपेक्षा अधिक प्रशंसा करो।[3]

---

1. ''देवा सुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिर सुरे समुदा इति आख्यानम्। निरूक्त– 11–25।
2. तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचिलन् इतिहासस्य चवै पुराणस्य च गाथानां च नाराशंनीसां चं प्रियंधाम् भवति। (अथर्ववेद संहिता– सू. 7, 4 पृ0 304)
3. शतपथ ब्राह्मण – 2/13–3–1

वैदिक संहिताओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राक्कालीन सामग्री गाथाओं तथा गाथाचक्रों से हीं, इतिहास, पुराण आदि का विकास हुआ। पुराणों का उल्लेख, वेद, ब्राह्मण, सूत्रग्रन्थ और स्मृति में प्राप्त होने से उनकी प्राचीनता सुविदित है।[1]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अनेक गाथाचक्र व लोक गाथाओं का विकसित रूप एवं विकसन शील महाकाव्य का पूर्णरूप होने से दोनों के बीच की आवश्यक श्रृंखला है। वैदिक साहित्य में महाकाव्य के जिन सूक्ष्म बीजों को पाया जाता है, वे पुराणकाल से ही अंकुरित एवं विकसित हुए हैं। रामायण तथा महाभारत ऐसे अनेक गाथाचक्रों द्वारा निर्मित है। स्वयं महाभारत भी पुराण सामग्री से निर्मित है। इस तथ्य का अनुमोदन मत्स्य पुराण ने एक स्थान पर किया हैं।[2]

---

1. अथर्ववेद – 11/7/24
   शत.ब्रा०, गो. ब्रा०, छा. उप०, बृहदा. उ०, आ. धर्म सू०, गौ धर्म सू०।
   आख्यानैश्चाप्युपाक्यानैगर्थािमिः कल्पशुद्धिभिः।
   पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थ विशारदः।।
   वि०पु०– अंश–3, अध्याय 6, श्लोक 15।

2. अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवती सुतः।
   भारताख्यानमखिलं चक्रे तदुपबृंहितम्।।
   म० पु० – 53/70

इस प्रकार ये आख्यान एवं गाथाओं से महाकाव्य का विषय निर्मित हुआ। रामायण में अनेक उपकथाओं का उल्लेख मिलता है (सावित्री, उर्वशीपुरूरवा, वामन, ययाति, श्येनकपोत्) महाभारत में वीरों का यत्र-तत्र स्पष्ट उल्लेख है। रामायण का गायन सर्वप्रथम बाल्मीक जी ने अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर लवकुश द्वारा कराया था।[१]

महाभारत के भी तीन संस्करण स्पष्ट ही हैं। सर्वप्रथम व्यास जी ने शुकदेव को, बाद में वैशम्पायन ने जन्मेजय को और अन्त में, सौति ने ऋषियों को मौखिक रूप से ही सुनाई है।

परिणामस्वरूप जय भारत और महाभारत ये तीन नाम भी विकसनशील कथा के तीन संस्करणों को द्योतित करते हैं।[२]

इससे स्पष्ट होता है कि युग-युग की प्रदीर्थ यात्रा में कोई घटना या कथा लोकप्रियता से अपने आस-पास अनेक उपकथाओं का जाल एकत्र करती हुई और कभी-कभी अपने पूर्व या मूल रूप में परिवर्तित होती हुई प्रतिभाशाली लेखक कवि द्वारा संयोजित कर दी जाती है और अन्त में बृहदाकार ग्रन्थ के रूप में सामने आती है।

---

1. वा0रा0- बा.का. 4 9 उत्त.का. 93।
2. ज्योना मेति हासौऽयं श्रोतण्यो विजिगीषुणा- महा0-1/62/22।

   चतुर्विंशति साहर्सी चक्रे भारत संहिताम्। उपाख्या नै र्विनातावत् भारतं प्रो च्यते बुधैः। महत्वाद् भारवत्वाच्च महाभारत मुच्यते।

   महा- 1/1/300।

विस्खलित रूप से प्राप्त होने वाली गाथायें गाथाचक्रों का रूप धारण करती हुई एक विकसन शील काव्य का रूप धारण करती हैं और इनका प्रातिभ चक्षु से निरीक्षण कर कोई अम्लान प्रतिभाशाली इनका एक सुन्दर संयोजन करता है। वही इस संयोजित रूप का लेखक या कर्त्ता माना जाता है।

वस्तुतः इनका कोई एक विशेष कवि या कर्ता नहीं होता। सूत मागध आदि द्वारा गाये हुए पुराणों, आख्यानों उपाख्यानों का एक समष्टि रूप में विकसित एवम् संयोजित रूप होता है। पाश्चात्य महाकाव्य इलियट, ओडेसी और पौरस्त्य महाकाव्य महाभारत आदि अनेक कथाचक्रों के विकसित महाकाव्य हैं।[1]

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि इन विकसनशील महाकाव्यों का विकास व्यक्तिगत भावना के उदय के साथ-साथ होता है। अर्थात् समाज की प्रारम्भिक अवस्था में महाकाव्यों का विकास नहीं हुआ था, क्योंकि इस समाज में व्यक्तिगत भावना का अभाव होने से एवं काव्य के लिए नायक की आवश्यकता होने से महाकाव्य का उदय असम्भव था। महाकाव्य के लिए वीर नायक आवश्यक होता है। किन्तु समाज का विकास होने के साथ-साथ पारस्परिक संघर्ष एवं कलह में वृद्धि हुई जिससे व्यक्तिगत चेतना जागृत, उद्बुद्ध होती है। और एक विशेष वर्ग भेद उत्पन्न हुआ। अब व्यक्तिगत विचारों, पराक्रमों उवं कार्यों का महत्व बढ़ गया। इस प्रकार कृषि युग के प्रारम्भिक अवस्था वीरयुग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस युग में, सम्पत्ति, वीरता, व्यष्टिभावना का महत्व बढ़ा और इसी वीरयुग की आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक अवस्थओं से ही महाकाव्य का उद्भव व विकास हुआ।

---

1. सं0 महा0 प0– पृ0 107,108।

पाश्चात्य आलोचकों ने सभी देशों के साहित्य का इतिहास का श्री गणेश वीरगाथा काल अथवा वीरयुग से माना है।

यही वीर युग भारतीय महाकाव्यों का भी उद्‌भव काल कहा जाता है। इसी वीरयुग में महाभारत, व रामायण जैसे महाकाव्य का प्रादुर्भाव हुआ।

भारतीय वीरयुग ऋग्वैदिक काल में प्रारम्भ हो गया था। वेद ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में इन्द्र, अश्विन् आदि के वीर आख्यान उपलब्ध होते हैं। ये इन्द्र, अश्विन् देवता ही ऋग्वेद के प्रधान देव हैं। भारतीय विद्वान इन्हें वैदिक काल के महाकाव्य नायक मानते हैं।

भारतीय वीरयुग के प्रतिनिधि महाकाव्य महाभारत व रामायण हैं।

"महाभारत का महाकाव्यीय स्वरूप"

'महाभारत' व्यास द्वारा रचित उत्तरकालीन विदग्ध महाकाव्यों के उपजीव्य आर्षमहाप्रबन्ध काव्य हैं। वैदिक साहित्य में प्राप्त होने वाली दानस्तुतियों, गाथाओं, आख्यानों में एवं इतिहास और पुराण में प्राप्त होने वाला इनका प्रारम्भिक रूप अनेक शताब्दियों में विकसित होकर रामायण, महाभारत में प्राप्त होता है। अतः भारतीय परम्परा रामायण को आदि काव्य और महाभारत को इतिहास, पुराण, धर्मग्रन्थ एवं महाकाव्य मानती है।

महाभारत में महाकाव्य के सभी गुणों का समावेश है, सर्वप्रथम इस अनुपमग्रन्थ में अनेक विषय, धर्मनीति, क्षत्रिय धर्म आदि अनेक प्रकार के गीतों, प्राचीनतर देवों, ऋषियों और राजाओं को कथा जगदुत्पत्तिवाद, प्राचीन आख्यानों, वीरों की वीरता से सम्बन्धित गाथाचक्रों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।

महाभारत महाकाव्य की रचना एक कवि की न होकर अनेक प्रतिभाशाली कवियों की ग्रथित है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि महाभारत एक विकासशील महाकाव्य है।[१]

इस ग्रन्थ को महर्षि व्यास, वैशम्पायन, तथा सौति ने मिलकर रचा है।[२]

---

1. सं0 महा0 पं0– पृ0 170
2. सं0 महा0 प0– पृ0 171

महाभारत के युद्ध के पश्चात् व्यास ने 'जय' नामक इतिहास की रचना की, इसमें सन्देह नहीं कि जो प्रश्नोत्तर वैशम्पायन और जनमेजय के बीच हुए होगें, वे व्यास जी के मूल ग्रन्थ से कुछ अधिक अवश्य होंगे। इसी प्रकार सौति तथा शौनक के बीच जो प्रश्नोत्तर हुए होंगे, वे वैशम्पायन के ग्रन्थ से कुछ अधिक अवश्य होंगे। सारांशतः व्यास जी के ग्रन्थ को वैशम्पायन ने बढ़ाया और वैशम्पायन के ग्रन्थ को सौति ने बढ़ाकर एक लाख श्लोकों बाला कर दिया।[१]

उपर्युक्त विवेचन यह निष्कर्ष देता है कि महाभारत एक हाथ की रचना न होकर व्यक्तियों की प्रतिभा एवं वाणी के योग से निर्मित रचना है। [२]

---

1. महा मीमांसा– पृ0 5,6 ।

2. महा मी0– पृ0 7, 8 ।

3. महा. आ0 पर्व– पृ0 64/190 ।

इस ग्रन्थ में वर्णित अनेक विषय इसे महाकाव्य कहने के लिए बाध्य करते हैं। उदाहरणार्थ सौति ऋषि ने धार्मिक क्षेत्र में एकता सिद्ध करने के लिए शिव-वैष्णव के पारस्परिक भेद भावों को मिटाने के लिए कुछ ऐसी कथाओं को ग्रथित किया, जिसमें परस्पर विरोधी देवों को एक दूसरे का उपासक चित्रित किया गया था।[1]

इसी प्रकार तत्कालीन प्रचलित वेदान्त सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, पाशुपत भिन्न मतों एवं मोक्ष मार्गों का एकीकरण करने के लिए इन सबका लक्ष्य एक ही है, नारायण की प्राप्ति, यज्ञ, तीर्थ व्रत दान का भी स्थान-स्थान पर वर्णनों को इसमें जोड़ा गया हैं।[2]

कथा संग्रह हेतु सौति ने अनेक प्राचीन ऋषियों की कथायें जो लोगों में तथा अन्य गाथाओं में इधर-उधर बिखरी हुई थी।

१) षोडशराजीयउपाख्यान (द्रोणपर्व) जिसका प्राचीन आख्यान शतपथ ब्राह्मण में है।

२) रामायण की संक्षिप्त कथा (वन पर्व)

३) सरस्वती आख्यान (सत्यपर्व) को संकलित कर इसमें जोड़ा।[3]

---

1. महा0– 10/18 ।
2. सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेश्वेतेषु दृश्यते।
   यथा गमं यथाज्ञानं निष्ठा नारायणः प्रभुः ।।
   महा0 – 12/ 349, 64, 68 ।
3. महा. – द्रो. प0, वन प0, स0 पर्व ।

ज्ञान संग्रह के लिए राजनीति, धर्मशास्त्र, तत्वज्ञान, भूगोल, ज्योतिष जैसे विषय की जानकारी इसमें प्राप्त होती है।[१]

सनातन धर्म का ज्ञान एवं नीति की शिक्षा देने के लिए स्थान - स्थान पर सनातन धर्म के मुख्य-मुख्य तत्वों एवं नीति के तत्वों को इसमें बतलाया है।[२]

अन्त में काव्य का स्वरूप देने के लिए सौति ने मूल महाभारत के वर्णनों को, (जैसे- युद्ध वर्णन), प्राकृतिक दृश्यों को (वन पर्व में हिमालय पर्वत के वर्णन एवं गन्धमादन पर्वत) शोक वर्णन को (स्त्रीपर्व) तथा विराट पर्व के अनेक मनोहर वर्णनों का उल्लेख किया है।[३]

इन वर्णनों से स्पष्ट होता है कि महाभारत एक संकलनात्मक या विकसनशील महाकाव्य है।

---

1. महा. – भी0 पर्व, वन. प. , शा. प. ।

2. महा0– 5/32, 39 (विदुर नीति)

3. महा मी.– पृ0 13, 16 । महा. – 12/ 30, 170, 349, 219 ।

महाभारत महाकाव्य में राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों ने इसकी रूपबृद्धि में योग दिया है। प्राचीन इतिहास, पुराण और आख्यान सूतों- मागधों द्वारा परिवर्तित - परिवर्धित होते हुए महाभारत ने एक महाकाव्य का रूप धारण कर लिया। उसकी मूलकथा के चतुर्दिक शतशः उपाख्यान, दार्शनिक वर्णन तथा इस कथानक की अपेक्षा पाँच गुना अधिक उपदेश या नीति प्रधान भाग इसमें सम्मिलित हैं। इसलिए महाभारत महाकाव्य होने के साथ ही साथ, स्वयं में एक सम्पूर्ण साहित्य है।[१]

महाभारत महाकाव्य के खण्डों या भागों को पर्व कहा गया है। सम्पूर्ण महाभारत अठारह पर्वों में विभक्त है। ये पर्व हैं-

१- आदि पर्व

२- सभा पर्व (इसमें पाण्डवों की द्यूतक्रीड़ा है)।

३- वन पर्व में- (पाण्डवों का वनवास है।)

४- विराट पर्व- (पाण्डवों का अज्ञातवास।)

५- उद्योग पर्व- में श्री कृष्ण का दूत बनकर कौरवों की सभा में जाना।

६- भीष्म पर्व- में श्रीकृष्ण का अर्जुन को गीता का उपदेश और भीष्म युद्ध।

७- द्रोण पर्व- अभिमन्यु व द्रोणाचार्य का युद्ध और वध।

८- कर्ण पर्व- कर्ण का युद्ध व वध।

९- शल्य पर्व- में युद्ध और वध।

१०- सौप्तिक पर्व-में सोते हुए पाण्डव पुत्रों का अश्वत्थामा द्वारा वध।

११- स्त्री पर्व- में स्त्रियों का विलाप।

१२- शान्ति पर्व- में भीष्म का युधिष्ठिर को मोक्ष का उपदेश।

१३- अनुशासन पर्व- में धर्म, नीति सम्बन्धी कथायें।

१४- अश्वमेघ पर्व- में युधिष्ठिर का अश्वमेघ यज्ञ।

१५- आश्रमवासी पर्व- में धृतराष्ट्र एवं गान्धारी का वन गमन।

१६- मौसल पर्व- में यादवों का मूसल द्वारा नाश।

१७- महाप्रास्थानिक पर्व- में पाण्डवों की हिमालय यात्रा।

१८- स्वर्गारोहण पर्व- में पाण्डवों का स्वर्ग जाना वर्णित है।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक पर्व अन्तर्गत तथा घटनाओं के अनुसार अध्यायों में विभक्त है।

आदि पर्व में ही सम्भव पर्व है।[१]

महाभारत महाकाव्य का आरम्भ मंगलाचरण से अर्थात् नारायण नर और सरस्वती की वन्दना से होता है।[२] तत्पश्चात् कवि ग्रन्थ का उपक्रम, ग्रन्थ में कहे हुए अधिकांश विषयों की संक्षिप्त सूची एवं पात्रों और कथानक का परिचय देता है। मुख्य कथानक के अतिरिक्त अनेक प्राचीन उपकथायें भी हैं। शकुन्तला, ययाति, नहुष, नल, रामचन्द्र, सावित्री उपाख्यान आदि बहुत सरस और मानवीय मनोविकार का सजीव चित्र होने के कारण इन्हें पाश्चात्य विद्वानों ने भी महाकाव्य कहा है। विंटरनित्स तो महाभारत को एक सम्पूर्ण साहित्य मानते हैं।[३]

---

1. महा.-आ. पर्व., महा आ. पर्व (नीलकंठ)

2. नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
   देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्।।

3. ए. हि. इग. लि. - (1)

कथा की गति में शिथिलता और मुख्य कथा तथा विविध कथाओं के बीच अन्विति का अभाव, बाद किये गये प्रेक्षेपों के कारण दिखाई देता है फिर भी व्यास जी ने इस महाकाव्य में विषयान्तर करने वाले प्रसंगों का नियोजन नहीं किया है।

जैसे – महाभारत का प्रधान विषय है भारतीय युद्ध इसलिये इस भारतीय युद्ध के अतिरिक्त अन्य प्रसंगों को जैसे दुर्योधन का विवाह प्रसंग आदि कहीं नहीं पाया जाता। श्री कृष्ण का चरित्र वर्णन भारतीय युद्ध से सम्बन्धित है। शेष चरित्र का वर्णन नहीं मिलता।

पात्रों के चरित्र चित्रण में व्यास जी ने अपनी अलौकिक प्रतिभा का परिचय दिया है। महाभारत के प्रधान पात्र कृष्ण, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, कर्ण, द्रोण, भीष्म पितामह और दुर्योधन आदि सभी पात्रों का चरित्र उदात्त है। सभी अपनी-अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं से परिपूर्ण हैं। धर्म जैसा सत्यवादी कर्ण जैसा दानी, द्रोणाचार्य जैसा योद्धा, श्रीकृष्ण जैसा कुशल नीतिज्ञ, दुर्योधन जैसा अटल निश्चयी और अभिमानी का चरित्र अन्यत्र दुर्लभ है।

द्रोपदी जैसी आत्म गौरव प्रिया, कुन्ती जैसी तेजोद्दृप्ता, गान्धारी जैसी पतिपरायणा और उदात्त चरितान्विता, दमयन्ती, सावित्री जैसी नारियों भी अन्यत्र दुर्लभ हैं। प्रत्येक पात्र जीवन की कठिनाइयों का हंसते-हंसते सामना करते आगे बढ़ता है।

महाभारत की वर्णन शैली प्रभावोत्पादक है। सृष्टि सौन्दर्य वर्णन में वनपर्वतान्तर्गत हिमालय वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक एवं यथार्थ है। युद्ध वर्णन अत्यंन्त सजीव एवं चित्रोपम है। उसमें कहीं भी पुनरुक्ति नहीं है।

वैसे तो अंग रूप से सभी रसों की नियोजना की गई है किन्तु महाभारत का मुख्य रस शान्त है। उसमें युद्धों की प्रधानता होने पर भी वीर अंग रूप में है। इसके द्वारा व्यास जी ने जीवन की निःसारता प्रतिपादित की है और इस निःसारता द्वारा प्राणियों को मोक्ष की ओर उत्सुक किया है।[1]

महाभारत की रचना अनुष्टुप छन्द में की गई है फिर भी बीच-बीच में उपजाति वंशस्थ छन्दों का प्रयोग किया गया है। सम्पूर्ण महाभारत में शार्दूलविक्रीडित छन्द एक बार प्रयुक्त हुआ है। आदि कर्ण और द्रोण पर्व में द्रुतविलंबित, रुचिरा, प्रहर्षिणी, मालिनी, बसन्ततिलका भी मिलते हैं। हॉपकिन्स के मतानुसार महाभारत में पिन्चानवे प्रतिशत छन्द एक प्रकार के अर्थात् अनुष्टुप् त्रिष्टुप् हैं।[2]

---

1. महाभारतेऽपि शास्त्रकाव्यरूपच्छायान्वयिनि वृष्णि पाण्डव विरसापसानवैमनस्यदायिनी समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजवनं ताप्पर्यप्राधान्येन् स्वप्रबन्धस्य दर्शयन्मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शन्तो रसश्च मुख्य तया सूचितः।।

ध्वन्याः– उद्यो0 4

2. ग्रे0 ए0 इ0 – पृ0 192

भाषा में प्राचीन शब्द और कहीं–कहीं व्याकरण की उपेक्षा भी की है। 'कृष्ण उवाच' , 'भगवानुवाच', सूत उवाच आदि शब्दों को श्लोक के बाहर ही रखा है। भाषा सरल, स्पष्ट, सुबोध, श्रुति मनोहर एवं गम्भीर है। संवादों की प्रचुरता है। संवादों की सहायता से ही पात्रों का चरित्र-चित्रण किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार महाभारत एक विकसनशील महाकाव्य है। भारतीय परम्परा इसकी विशालता को देखते हुए इतिहास, पुराण धर्मग्रन्थ एवं महाका व्य के रूप में भी स्वीकार करती है।

"महाभारत का रचनाकाल एवं रचियता"

'महाभारत' महाकाव्य का अध्ययन करने के पश्चात् इतना निश्चित है कि इस ग्रन्थ का निर्माण अनेक व्यक्तियों द्वारा विभिन्न समयों में हुआ। महाभारत के कालनिर्णय के सम्बन्ध में भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों की अलग-अलग स्थापनायें हैं। ये स्थापनाऐं इतनी भिन्न हैं कि किसी एक निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता कि महाभारत का निर्माण कब हुआ? किन्तु इसकी स्थापनाओं से महाभारत महाकाव्य के रचनाकाल की सीमा अवश्य निर्धारित की जा सकती है।

महाभारत के रचनाकाल के विषय में उल्लेख मिलता है कि शालिवाहन शक के आरम्भ में संस्कृत के एक सुपरिचित बौद्ध महाकवि अश्वघोष हुए हैं, जो सम्राट् कनिष्ट के सभापण्डित थे। उन्होंने सौन्दरानन्द और बुद्धचरित इन दो महाकाव्य के अतिरिक्त 'बज्रसूचिकोपनिषद्' नामक तीसरा व्याख्यान ग्रन्थ भी लिखा। इस ग्रन्थ में हरिवंश और महाभारत के श्लोक उद्धृत मिलते हैं।[१]

अश्वघोष के ग्रन्थ में उद्धृत उक्त दोनों ग्रन्थों के अंशों को पाकर न केवल यह विदित होता है कि 'महाभारत' का अस्तित्व इतना पुराना है वरन् यह भी सिद्ध होता है कि ईसा की प्रथम शती में 'हरिवंश' 'महाभारत' के साथ सम्बद्ध होकर अपना बृद्दद्शतसाहस्त्री रूप धारण कर चुका था। अश्वघोष का समय ईसा की प्रथम शती में सुनिश्चित है।[२]

---

1. हरिवंश– 24/20–21 (महा0– हरिवंश पर्व)
   महा0 – शा0 261 / 71
2. सं0 सा0 इति0 – पृ0 215
   सं0सा0 संक्षि0 इति0 – पृ0– 122

सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनी ने अपनी 'अष्टाध्यायी' में युधिष्ठिर भीम, विदुर आदि महाभारतयुद्ध के चरित-नायकों का तथा 'महाभारत' ग्रन्थ का उल्लेख व्याकरण संमत व्युत्पत्ति के साथ किया है।[१]

इस सम्बन्ध में विद्वानों की समीक्षाओं से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि पाणिनि के समय में 'महाभारत' था। पाणिनि का समय ई०पू० पाँचवी शती सुनिश्चित है। अतः महाभारत पाणिनि से पूर्व ही था।[२]

कल्पसूत्रों में 'महाभारत' के संबन्ध में महत्वपूर्ण चर्चाएँ लिखी मिलती हैं। 'शांखायन श्रौतसूत्रों' में कुरुक्षेत्र युद्ध में हुई कौरवों की पराजय का स्पष्ट उल्लेख है।[३]

आश्वलायन गृहसूत्र में 'भारत' और 'महाभारत' का नाम अलग-अलग उल्लिखित है। उसमें उसके संस्कर्ताओं का स्पष्ट उल्लेख है, जैसे सुमन्त, जैमिनि, वैशम्पायन प्रभृति ।[४]

भाषा के इतिहास से यह सिद्ध हो चुका है कि आश्वलायन गृहसूत्र पाणि न से प्राचीन था।[५]

---

1. पाणिन0 अष्टा0 – 8/3/95, 3/21/62, 6/2/38
2. सं0 साहि0 इति0– पृ0 215
3. शां0 श्रौ0 – 15, 16
4. आ0 गृ0 – 3/4/4
5. भा0 ज्यो0 – पृ0 153

'विष्णुसहस्त्रनाम' और 'भगवद्गीता' दोनों महाभारत के ही अंश हैं। बोधायन गृहसूत्र में इन दोनों ग्रन्थों के वचनों को प्रमाण स्वरूप में उद्धृत किया गया है।[१] इसके अतिरिक्त 'बौधायन धर्मसूत्र' में भी इस सम्बन्ध में चर्चाऐं मिलती हैं।[२]

कल्पसूत्रों के उक्त विवरण से यह बात तो सिद्ध होती है कि धर्मसूत्रकारों ने 'महाभारत' से दाय ग्रहण किया होगा। कल्पसूत्रों का निर्माण लगभग ७०० ई०पू० निर्धारित है। यही मत संप्रति मान्य है। इस दृष्टि से महाभारत के अस्तित्व का पता सूत्र ग्रन्थों से पहले प्रतीत होता है।[३]

महाभारत में दस अवतारों के प्रसंग में बुद्ध को स्थान नहीं दिया गया है[४] किन्तु वन पर्व में देवालयों के पर्यायवाची रूप में 'एडूक' शब्द का उल्लेख है। ये 'एडूक' बुद्ध की वस्तुओं को जमीन में गाड़कर स्मारक के रूप में अभिहित होते थे। 'एडूक' को संप्रति 'जगोबा' नाम से कहते हैं, जिसका प्रचलन श्रीलंका और ब्रह्मदेश में है। इससे यह प्रतीत होता है कि महाभारत बुद्ध के बाद किन्तु बुद्ध के अवतारों में गणना होने से पूर्व रचा गया। महाभारत में जो 'बुद्ध' या 'प्रतिबुद्ध' शब्द आये हैं वे तथागत पर्यायवाची न होकर ज्ञानी; स्थित प्रज्ञ आदि के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।[५]

---

1. बौ.गृ.– देशाभावे द्रव्याभावे साधारणे कुर्यात् मनसा वचियेदिति, तदाह भगवान्– पत्रं, पुष्पं, फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपछतमश्नामि प्रयत्मात्मनः।।
(गीता–1/26)

2. बौ.धर्म. – 2/2/26

2. सं. साहि. इति.– पृ0 216, सं साहि. सक्षि. इति. – पृ0 127

4. महा.– शा. प.– 339/ 100

5. महा.– वन. प. – 190 / 68

महा.– शा. प. – 194/58, 307/ 47, 343/ 52

यद्यपि पूर्व वैदिक साहित्य अर्थात् मन्त्र- संहितओं में 'भारत' या 'महाभारत' का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता तथापि उत्तर वैदिक साहित्य अर्थात् ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में कुरू-पांचाल नामक दो आयुधजीवी आर्य जातियों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

इस प्रसंग में कुरूक्षेत्र, परीक्षित, जनमेजय और भरत आदि 'महाभारत' के चरितनायकों के नाम उल्लिखित हैं। वहाँ कुरुक्षेत्र को देवपूजा की पुण्यभूमि और सारे प्राणियों का उत्पत्ति स्थान बताया गया है। कुरुक्षेत्र के उत्तरी भाग को 'तूर्घ्न' नाम से अभि हित किया गया है।[१]

अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी महाभारत के काल निर्धारण के लिए अपने मत दिये हैं। विंटरनित्स के अनुसार महाभारत के मूल कथानक और उसमें वर्णित कुछ आख्यानों का ऐतिहासिक विश्लेषण कर उनकी प्राचीनता उत्तर वैदिक युगीन साहित्य (१००० ई०पू०) सिद्ध की गई है।[२] इस आधार पर महाभारत के कालनिर्णय की पूर्व सीमा वैदिक युग तक पहुँचती है।

---

1. तैत्तिरीय आरण्यक – 5/1/1

2. हि0 आ0 इण्डि0 लि0 – भा0 1 पृ0 454, 462

विण्टरनित्स महोदय ने 'महाभारत' के निर्माणकाल पर नौ ऐतिहासिक आधार उद्धृत किये हैं। जिनका निष्कर्ष है कि 'महाभारत' में कुछ ऐसे आख्यानों-उपाख्यानों का भी उल्लेख है जिनका सम्बन्ध वैदिक साहित्य के युग तक पहुँचता है। महाभारत में अनेक नीतिपरक सूक्तियाँ तथा कथाएँ इस प्रकार की हैं, जो जैन, बौध सम्प्रदायों से सम्बन्धित हैं और जिनका समय कदाचित ६०० ई०पू० तक पहुँचता है। इस आधार पर विण्टरनित्स के मतानुसार महाभारत का वर्तमान रूप ४०० ई० पू० से पहले का ठहरता है।[1]

कालनिर्णय की दृष्टि से महाभारत की नक्षत्र गणना 'अश्विनी' न होकर 'कृतिका' है। मेष, वृष आदि राशियों का भी महाभारत में उल्लेख नहीं हैं जिससे विदित होता हे कि मेष, वृष आदि राशियों के प्रचारक यूनानवासियों, अर्थात् सिकन्दर के प्रवेश से पहले महाभारत की रचना हो चुकी थी। महाभारत में वर्णित है कि विश्वामित्र ने श्रवण आदि की नक्षत्र गणना आरम्भ की थी।[2]

टीकाकार ने इसका अर्थ लगाया है कि उस समय श्रवण नक्षत्र से उत्तरायण होता था। वेदांग ज्योतिष के समय में धनिष्ठा नक्षत्र से उत्तरायण आरम्भ होता था। यह स्थिति शक संवत् से १५०० वर्ष पहले की है। ज्योतिष के अनुसार उद्गयन को एक नक्षत्र पीछे रहने में लगभग एक हजार वर्ष लगते हैं। इस हिसाब से महाभारत का रचनाकाल शक संवत् ५०० वर्ष पूर्व ठहरता है।[3]

---

1. महा.- अनु0 पर्व- 64, 89 अ0
2. महा.- अश्व. प. - 44/2 आदि. प. - 61/34
3. भा. ज्यो. - पृ0 89-90, 111, 147

श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने 'महाभारत' के अन्तः साक्ष्यों के आधार पर सिद्ध किया है कि 'महाभारत' के मूल रूप का निर्माण ३५०-३२० ई० पूर्व के बीच हो चुका था।[1]

सामान्यतया कुरूक्षेत्र का युद्ध २५०० वर्ष ई० पू० माना जाता है। अतः 'महाभारत' के पात्र कृष्ण, युधिष्ठिर आदि को आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व माना जाना चाहिए। किन्तु इस प्रसंग में एक समस्या यह भी है कि ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषद् ग्रन्थों में महाभारतकालीन व्यक्तियों के आख्यान होने से क्या ऐसा माना जाना चाहिए कि उक्त ग्रन्थों का निर्माण महाभारत के बाद हुआ? इसका उत्तर यह है कि निश्चित रूप से उक्त ग्रन्थों के ये अंश प्रक्षिप्त हैं।[2]

महाभारत में उद्धृत ऋतु, अयन, मास, वार, नक्षत्र, तारे, मेषादि नाम, सौरमास, ग्रहण, ग्रहज्ञान और युद्धकालीन गृह स्थिति आदि बातों का बारीकी से विश्लेषण कर दीक्षित जी ने निश्चित किया है कि पाण्डवों का समय कलियुग व द्वापर युग की सन्धि में था, जिसको बीते आज लगभग ५००० वर्ष हो रहे हैं। इस दृष्टि से पाण्डव लगभग ३२०० शक पूर्व हुए।[3]

---

1. महा. मीं. – पृ0 307

2. एतरेय ब्रा. – 8 प. 21, शतपथ ब्रा0 13/5/41

3. भा. ज्यो. – पृ0 157, 177

लोकमान्य तिलक ने अपने ग्रन्थ 'श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य' में उन्होंने गीता का प्रामाणिक विवेचन किया है। 'यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' की तरह गीता के सम्बन्ध में आज तक वही सब कुछ समझा जाता है, क्योंकि 'गीता' 'महाभारत' का ही एक अंश है और 'महाभारत' गीता, कृष्ण, पाण्डव-कौरव तथा महाभारत युद्ध का भी एक ही समय है। लोकमान्य तिलक ने 'महाभारत' के काल निर्णय के सम्बन्ध में जितना श्रम किया है, उनकी स्थापनाऐं आज भी उतनी ताजी हैं।[१]

तिलक के अनुसार 'गीता' की समग्र टीकाओं में शांकरभाष्य सर्वाधिक प्राचीन और प्रामाणिक है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने विधि भाष्य ग्रन्थों में महाभारत व गीता के उद्धरणों को उद्धृत किया है। उनके अनुसार शंकराचार्य का समय ६१० शक् (७४५) वि. बैठता है। यह निश्चित है कि महाभारत का अस्तित्व शंकराचार्य से भी दो-तीन सौ वर्ष पूर्व अर्थात् ४०० शक् के लगभग अवश्य रहा होगा।[२]

---

1. गी० रह० – पृ० 111, 147

2. गीता रह० – पृ० 572

कालिदास और बाणभट्ट ने भी 'गीता' जो महाभारत का ही अंश है, का उल्लेख अपने–अपने ग्रन्थों में किया है। बाणभट्ट का समय ६६३ वि. के लगभग और कालिदास का समय इससे भी पहले ई० पू० प्रथम शती में निश्चित है। अतः महाभारत का समय इससे भी अधिक पूर्व है[1]

ईसवी सन् के आरम्भ में 'महाभारत' और गीता की सर्वमान्यता भास कवि के 'कर्णभार' नाटक से भी सिद्ध होती है।[2] भास के नाटकों के अध्ययन करने से ये बात स्पष्ट हो जाती है कि वे महाभारत महाकाव्य से पूर्णतः परिचित थे। भास का समय ईसा पू० चौथी शताब्दी है अतः महाभारत का समय इससे पहले का ही था।

---

1. रघु0 महा0– अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किञ्चन् विद्यते ।
   रघु0 महा0– 10/31
   नानवाप्तमवाप्तव्यम् – गीता 63 / 22

2. हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्ग जित्वा वा मोक्ष्यसे महीम् ।
   तस्मादुतिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।।
   गीता– 2 / 37

   हतोऽपि लभते स्वर्ग जित्वा तु लभते यशः ।
   उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे ।।
   कर्णभारं – 12

महाभारत वस्तुतः एक वृहत्तकाव्य ग्रन्थ है, और उसके प्राचीन एवं नवीन अंशों को मौलिक और प्रक्षिप्त अंशों को छांटकर अलग करना सर्वथा दुष्कर कार्य है।

महाभारत की मूलकथा जिसको भृगुवंशीय ब्राह्मणों ने संबद्ध किया था। वह बहुत प्राचीन है। ऐसे ब्राह्मण ग्रन्थों में जिसका निर्माण लगभग १००० ई०पू० में ही हो चुका था, कुरुक्षेत्र, परीक्षित, भरत और धृतराष्ट्र आदि महाभारत से सम्बद्ध नाम मिलते हैं, किन्तु विभिन्न विद्वानों के उक्त मंतव्यों को भी असत्य नहीं कहा जा सकता, जिसके कथनानुसार 'महाभारत' अनेक युगों में संकलित, संशोधित एवं संपादित हुआ और अनेक हाथों द्वारा विरचित होकर आज हम तक पहुँचा है।

महाभारत के अन्तर्वहिः साक्ष्यों और विभिन्न विद्वानों के मतों का विश्लेषण कर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है कि उसकी पूर्व सीमा वैदिक युग तक तथा अन्तिम सीमा ईसा की चौथी- पाँचवी शती तक पहुँचती है।

रचयिता–

महाभारत चूंकि एक काल की रचना नहीं है। अतएव उसको एक हाथ का लिखा हुआ भी नहीं माना जा सकता यह समय-समय में प्रादुर्भूत विभिन्न प्रतिभाओं का सामूहिक प्रयास है। महाभारत के वर्तमान स्वरूप को देखकर उसके विभिन्न मूल कर्ताओं को खोज सकना कठिन ही नहीं असम्भव भी है।

उसकी कलेवर बृद्धि के क्रम को दृष्टि में रखकर उसके मूल कर्ताओं के लिए उप अज्ञात-नामा, चारणसूतों , ब्राह्मण पुरोहितों और साधु सन्तों को ही उद्धृत करना पड़ेगा जिनके व्यक्तित्व की आंशिक छाप भी महाभारत में नहीं है। इसलिए महाभारत के वास्तविक कर्त्ताओं के नाम आज अविदित हैं।

कृष्णद्वैपायन वेदव्यास के नाम से महाभारत का प्रचलन है किन्तु वह भी महाभारत का कर्ता न होकर वक्ता थे। महाभारत में एक स्थान पर ऐसा उल्लेख है कि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने निरन्तर तीन वर्षों के घोर परिश्रम से इसका पूरा कथानक तैयार कर लिया, तब उन्होंने काव्यरूप में उसको प्रत्यक्ष लिखने हेतु साक्षात् श्री गणेश से अनुरोध किया। गणेश जी ने शर्त रखी कि उनकी लेखनी अविरत चलती रहकर काव्य रचना में विलम्ब के कारण लेखन में रूकावट नहीं आनी चाहिए।[1]

---

1. महा0 गू0 रह0– पृ0 1, 2

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थाय कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारत माख्यानं कृतवानिदमुत्तमम्।। महा–1/56/32

उत्तर में महाकवि ने भी शर्त रखी कि गणेश जी को प्रत्येक श्लोक उसका वास्तविक सुसंगत आशय समझने के बाद ही लिखना चाहिए। दोनों के इस शर्तों के विलक्षण संदर्भ में महाभारतकार ने अपनी काव्य रचना में स्थान-स्थान पर ऐसे गहन कूट श्लोक करना प्रारम्भ किया कि उनका गूढ़ार्थ समझने में विद्या के देव गणेश जी को भी कुछ समय सोचना पड़ता, और उतने में महाकवि आगे के कई श्लोक तैयार कर रखते। इस प्रकार रचना और लेखन का क्रम अविरल चलता रहा, और करीब एक लाख श्लोकों का यह विश्वप्रसिद्ध महाकाव्य निर्माण हुआ।[1]

इसके पश्चात् महामुनि द्वैपायन ने उत्कंठा पूर्वक अपनी रचना में जटिल गुत्थियाँ निर्माण कर दीं, जिनके बारे में उन्होंने प्रतिज्ञा पूर्वक कहा कि इसमें आठ हजार आठ सौ ऐसे श्लोक हैं जिनका वास्तविक आशय मैं जानता हूँ (मेरा पुत्र) शुक जानता है और (मेरा शिष्य) अंशतः ही जानता होगा।[2]

अतः यह सर्व सिद्ध है कि महाभारत में अनेक गूढ़ श्लोक हैं, जिनका अर्थ विद्वान भी नहीं लगा पाते हैं।

---

1. ग्रंथग्रंथि तदा चक्रे मूनिर्गूढं कुतूहलात् ।
   यस्मिन् प्रतिज्ञया प्राह मुनिर्द्वैपायनस्त्विदम्।।
   अष्टौ श्लोक सहस्त्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
   अहं वेदमि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा ।।

   महा0- 1/1/80, 81

2. महा0 गू0 रह0 - पृ0 1, 2

महाभारत से विदित होता है उसकी कथा का तीन व्यक्तियों ने प्रवचन किया। महाभारत के युद्ध के पश्चात् 'जय' नामक इस काव्य के पहले वक्ता वेदव्यास थे उन्होंने ही पहले पहले 'महाभारत' की सम्पूर्ण कथा को अपने सुपात्र शिष्य वैशम्पायन को सुनाया।

वैशम्पायन ने उस कथा को जनमेजय नाग यज्ञ के अवसर पर अर्जुन के प्रपौत्र जनमेजय को सुनाया और तीसरी बार लोमहर्षण के पुत्र सौति ने इस पवित्र महाकाव्य को शौनकादि ऋषियों को सुनाया।[1]

इस प्रकार महाभारत किसी एक कवि की रचना न होकर अनेक प्रतिभाशाली कवियों की रचना है।

विद्वानों ने महाभारत के रचियता को लेकर अनेक खोज की जिससे महाभारत की कथा में आये हुए परिवर्तनों का भी ज्ञान हुआ। विद्वानों की खोज के अनुसार कृष्णद्वैपायन ने जिस कथा को कहा उसका नाम 'जय' था। यह नाम भी ऐतिहासिक है।

---

1. सं० साहि० इति० – पृ० 208

सं० महा० पं० – पृ० 268

पाण्डवों की विजय के कारण संभवतः उस कथा का ऐसा नामकरण हुआ। साथ ही यह भी उल्लेख मिलता है कि कृष्ण द्वैपायन प्रोक्त उस 'जय' नामक ग्रन्थ में ८,८०० श्लोक थे।[1]

वैश्म्पायन ने जिस कथा को कहा उसका नाम 'भारत' था और उसकी श्लोक संख्या भी बढ़कर २४००० हो गई, इसी श्लोक से विदित होता हे कि 'चौबीस' हजार श्लोकों का वह 'भारत' ग्रन्थ आख्यान, उपाख्यानों से रहित था। किन्तु अन्त में सौति ने जिस कथा को शौनकादिकों को भी जोड़ दिया गया था। जो बृहदाकार में परिणित हो गया और इसलिए उसको महाभारत के नाम से अभिहित किया गया।[2]

इसी को बाद में 'शतसाहस्त्री, संहिता' भी कहा गया। इन प्रमाणों से भी ये सिद्ध होता है कि महाभारत अनेक कवियों की रचना है।

---

1. नारायणं नमस्कृत्यं नरं चैव नरोत्तमम्।
   देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत।।
   'जय' नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजीगीषुणा ।
   अस्टौ श्लोक सहस्त्राणि अष्टौ श्लोक शतानि च।
   अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति संजयाँ वेत्ति वा न वा।
   महा० – 1/62/20, 22
2. चतुर्विंशतिसाहस्त्रीं चक्रे भारत संहिताम ।
   उपाख्यानैर्विना तावत् भारत प्रोच्यते बुधैः।।

प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् श्री चिन्तामणि वैद्य 'महाभारत' के सम्बन्ध में अधिकारी विद्वान् माने गये हैं। 'महाभारत' पर उनका विशेषाधिकार था। उनका मत है कि महाभारत के अनेक कथा प्रसंग और साथ ही हस्तिनापुर में भगवान् श्रीकृष्ण का विराटरूप दर्शन सौति के निजी मस्तिष्क की रचना है। उन्होंने महाभारत में सौति द्वारा परिवर्द्धित अंशों पर भी विस्तार से प्रकाश डाला। उन्होंने महाभारत के दो रूप स्वीकार किये- एक भगवान् व्यास कृत 'भारत' और दूसरा नैमिषारण्य में शौनकादि ऋषियों को सुनाने वाले सौति द्वारा परिवर्द्धित 'महाभारत'।[१]

अतः महाभारत के वर्तमान स्वरूप को देखकर उसके विभिन्न मूल कर्त्ताओं को खोजना अत्यधिक दुष्कर ही नहीं अपितु असम्भव है।

---

1. **महा0 मी0– पृ0– 12, 55, 76, 82, 83, 85, 87, 559, 565**

   सं0 साहि0 इति0–पृ0 210, 211

   सं0 महा0 परा0 – पृ0 215

महाभारत की रचना का उद्देश्य एवं इसकी सार्थकता-

महाभारत कपोल कल्पित या केवल रूपक ही नहीं है अपितु यह मनुष्य जीवन के उद्देश्य रूप धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चतुर्विध पुरूषार्थ की शिक्षा देने वाला विशालकाय ग्रन्थ है। महाभारत एक ऐसा महाकाव्य जिसके प्रत्येक पर्व का प्रत्येक अध्याय स्वयं में एक उद्देश्य लिए हुए है, जिसका अनुशीलन कर जन-साधारण अपने जीवन को सफल बना सकता है।

इस महाकाव्य की प्रत्येक कथा या विशिष्ट प्रसंग मानव जीवन का गम्भीर अर्थ और चिन्तन सत्य का ही द्योतक है। महाभारत के प्रतिपाद्य को देखने की एक लौकिक सामाजिक दृष्टि भी प्राप्त होती है। हमारे समाज की नैतिक मान्यता है, 'सत्यमेव जयते'।

महाभारत में अनेक स्थानों पर कहा गया है कि जहाँ धर्म है वहीं जय है। यदि हम धर्म की रक्षा करेंगें। तो धर्म हमारी रक्षा करेगा और यदि गहनता से इस ग्रन्थ पर दृष्टि पात करें, तो सम्पूर्ण महाकाव्य एक ही बात का समर्थन करता है कि धर्म की सदा विजय होती है। ये महाभारत ग्रन्थ अधर्म पर धर्म की विजय का परिचायक है, असत्य पर सत्य के साम्राज्य का द्योतक है।

महर्षि व्यास का इस ग्रन्थ को रचने का एक उद्देश्य यह भी था कि वह आने वाली पीढ़ी तक ये संदेश पहुँचाना चाहते थे कि जिस तरह अधर्म का साथ देने वाले समस्त कुरुवंश का भीषण नरसंहार में नाश हुआ और सदा धर्म पर अवस्थित रहकर सत्य का अनुकरण करने वाले पाण्डवों ने राजसी वैभव को प्राप्त कर स्वर्ग को भी प्राप्त किया, उसी प्रकार जो व्यक्ति धर्म के मार्ग पर चलेगा, वह समस्त सुखों का उपभोग करेगा और जो अधर्म का अनुगामी होगा वह अपना नाश स्वयं करेगा।

व्यास जी द्वारा दिया गया ये संदेश मानव हृदय तक पहुँचा भी है। इस महाकाव्य में देव और दानवों की जो योजना की गई है वह अच्छाई और बुराई का प्रतीक है, धर्म स्वरूप पाण्डवों के मार्ग में जो-जो विषमताऐं एवं अवरोध हैं, वे केवल सद्गुणों-दुर्गुणों के प्रतीक स्वरूप हैं।

द्रौपदी का स्वाभिमान, दुर्योधन की धन-लोलुपता, भीम व अर्जुन का अदम्य साहस, युधिष्ठिर की धैर्यवृत्ति माद्री, सावित्री व गान्धारी की पतिभक्ति, दुर्योधन शासन की दीर्घद्वेष वृत्ति भावना शकुनि की कपटमनों वृत्ति आदि मनोविकारों की प्रतिध्वनि आज भी तत् तत् परिस्थितियों में सुनाई पड़ती है।

इन सभी मनोभावों का इन वृत्तियों को प्रकट करने का उद्देश्य एक मात्र ही दृष्टिगत होता है कि जो मनुष्य धर्म में संलग्न हो किसी को कष्ट दिये बिना, न्याय के पथ पर अग्रसर होता है ईश्वरीय सत्ता भी उसकी सहायक बन जाती है।

महाभारत में दुर्योधन, कर्ण, शकुनि तथा दुःशासन पग-पग पर पाण्डवों का अपमान करते, किन्तु युधिष्ठिर अपमानित होने पर भी स्वयं धर्म का पथ नहीं त्यागते हैं और न अपने भाईयों को त्यागने देते हैं। वे धर्म की रक्षा करते हैं, ताकि धर्म उनकी रक्षा कर सके। उनका सामर्थ्य और धर्म उनके साथ था।

इसलिए कृष्ण जो स्वयं भगवान विष्णु का अवतार थे वे उनके साथ थे व्यास उनकी सुरक्षा हेतु चिन्तित थे और विदुर प्रत्येक पग पर उनकी रक्षा का प्रयत्न कर रहे थे। अपने कर्म में पूर्ण निष्ठा और धर्म से पाण्डवों ने भगवत्कृपा प्राप्त की और भगवान श्री कृष्ण की कृपा के पश्चात् पाण्डव अपराजेय हो गये थे।

ये भगवत्कृपा ही थी जो महाभारत के युद्ध में विजय के रूप में प्रकट हुई है।

हमारे शास्त्रकारों एवं ऋषियों के मतानुसार धर्म की जब हानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है तब इस पृथ्वी पर धर्म की स्थापना के लिए ईश्वर का प्राकट्य होता है।

गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने स्वयं कहा है कि जब-जब धर्म की हानि व अधर्म की बृद्धि होगी तब-तब ही मैं अपने साकार रूप में लोगों के सम्मुख प्रकट होऊँगा।[1]

महाभारत काल में ऐसे क्रूर स्वार्थी शासकों जैसे - नरकापुर, जरासंघ, वासुदेव, पंचजन, शिशुपाल का शासन था जिसमें भोगवाद, साम्राज्यवाद, हत्या, अपहरण आदि का बोल-बाला था। इन सभी दुष्ट राजाओं के अत्याचार को समाप्त करने के लिए ही भगवान श्री कृष्ण ने अवतार लिया था।

हस्तिनापुर में अंधे धृतराष्ट्र के हाथों शासन सत्ता थी जो क्रूर स्वार्थी एवं अपने पुत्र मोह के कारण पाण्डवों का हित नहीं चाहते थे। जिसका एक मात्र कारण शकुनि था जो आजीवन हस्तिनापुर में बैठा अपने पासे फैंकता रहा और कुरूक्षेत्र को विनाश के समीप ले गया।

---

1. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
   अभ्युत्थानम् धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

   महा0 6/28/7

   श्री म0 भ0 गी0 – 4/78

पाण्डव इतना अपमानित होने के बाद भी सहनशीलता एवं शालीनता से युक्त रहे । गन्धर्वों द्वारा दुर्योधन को बन्दी बनाये जाने पर युधिष्ठिर अपने अनुजों से कहते हैं कि दूसरों द्वारा पराभव प्राप्त होने पर हम पाँच नहीं बल्कि एक सौ पाँच हैं।[1]

युधिष्ठिर का ये कथन वास्तव में उनकी महानता का प्रतीक है। युधिष्ठिर के विषाद-जन्य वैराग्य और श्री कृष्ण की उक्ति से महाभारत के कथ्य को एक नया आयाम प्राप्त होता है और महाभारत का उद्देश्य भी सार्थक होता है।

"महाभारत के जिस युद्ध में अठारह अक्षौहिणी सेना मारी गई वह युद्ध न तो उतना कठोर था और न मनुष्य का अन्तिम युद्ध था। अन्तिम युद्ध तो मनुष्य को अपने आप से करना है, अपने मन की उच्छृंखलता के विरूद्ध लड़ना है।"

श्री कृष्ण कहते हैं- "शत्रुदमन ! द्रोणाचार्य और भीष्म के साथ जो युद्ध हुआ था वही युद्ध आपके सामने उपस्थित है। इस समय तुमको अकेले अपने आप मन से युद्ध करना होगा। भरत भूषण! अतः उस युद्ध के लिए तुमको तैयार हो जाना चाहिए।"

अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए योग के द्वारा मन को वशीभूत करके तुम माया से परे परब्रह्म को प्राप्त करो।

---

1. महा0 – वन पर्व– 243 / 4, 6

मन के साथ होने वाले इस युद्ध में यदि तुम मन को न जीत पाये तो पता नहीं तुम्हारी क्या दशा होगी। हे कुन्तीनन्दन ! इस बात को अच्छी तरह समझ लेने पर तुम कृतकृत्त हो जाओगे।[१]

वस्तुतः जिसे हम पराया समझते हैं उससे लड़ना उतना ही सरल होता है। सबसे कठिन है अपने मोह से लड़ना।

आज अपनों का मोह युधिष्ठिर के मन में जमकर बैठ गया है इसलिए कृष्ण उसको समझाते हुए कहते हैं–

''मम ये दो अक्षर ही मृत्युरूप हैं और नमम ये तीन अक्षरों का पद सनातन ब्रह्म की प्राप्ति का कारण है। ममता मृत्यु है और उसका त्याग सनातन अमृत्व है। हे राजन्! इस प्रकार मृत्यु और अमृतत्व दोनों अपने भीतर ही स्थित है, ये दोनों अदृश्य रहकर प्राणियों को लड़ाते हैं। अर्थात् किसी को अपना मानना, किसी को अपना न मानना यह भाव ही युद्ध का कारण है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।[२]

---

1. महा0 अश्0 पर्व– 12 / 2, 15

2. महा0 – वही– 13/3, 4

भगवान् श्री राम का अवतार का हेतु राक्षस राज रावण का वध कर पृथ्वी पर एक नये युग अर्थात् "रामराज्य" की स्थापना करना था। यद्यपि रामअवतार से पहले रावण से भी शक्ति-शाली राजा जैसे- बाली, दशरथ, सहस्त्रार्जुन थे। परन्तु ये आपस में ईर्ष्या द्वेष के कारण रावण को परास्त तो कर पाये किन्तु समाप्त न कर सके। ऐसे समय में ईश्वर की आवश्यकता अनुभव की गई। और श्रुति सेतु पालक बनकर अनीति से धर्म की रक्षा के लिए भगवान् राम ने जन्म लिया। यदि त्रेता युग में एक रावण कुम्भकरण थे तो महाभारत काल में हर घर में रावण कुम्भकरण मेघनाद आदि जैसे आचरणों वाले राजा शासन कर रहे थे।

अतः शास्त्रों ऋषियों की परम्परानुसार ऐसे समय में ऐसे दूषित समाज में समन्वय, प्रेम, एकता स्थापित करना किसी के वश की बात नहीं थी, इसलिए केवल अवतारी सत्तांओं ने साकार रूप में उत्पन्न होकर सबमें मित्रता, सन्धि, एकता, प्रेम को स्थापित करके एक नये युग का सूत्रपात किया।

महाभारत में साक्षात् श्री कृष्ण स्वयं युद्ध की विनाश लीला को रोकने के लिए कौरव सभा में सन्धि वार्ता करने के लिए शान्तिदूत बनकर गये, किन्तु दुर्योधन ने उनका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और अन्त में महा संग्राम हुआ।

अतः इस महासमर की कथा इसी उद्देश्य हेतु रची गई।

वस्तुतः अपने सारांश रूप में महाभारत भरतों में श्रेष्ठ युधिष्ठिर के इसी महासमर की कथा है जिसमें उसने आजीवन संघर्ष कर अपनी मन की आशक्ति को जीता है। अपने पराये के भेद को मिटाया है। आन्तशंसता तथा सर्वजीव दया को अपना धर्म माना है। इस सोपान तक आते-आते 'महाभारत' न तो केवल इतिहास रह जाता है न मात्र काव्य वह जीवन के विकासार्थ साधना के सोपानों को पार करने के लिए तपस्या के महा समर का तथा अंधकार से प्रकाश की ओर व बुराई से अच्छाई की ओर ले जाने वाला अध्यात्मिक ग्रन्थ ही प्रमाणित होता है।

अतः यही उद्देश्य एवं सार तत्व कि जहाँ धर्म है वहीं विजय है महाभारत का सिद्ध है।

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय

अ. नीति का अर्थ और इसके विविध संकेत

ब. आचार का अर्थ और उसके संदर्भ

स. नीति और आचार के वैयक्तिक तथा सामाजिक सन्दर्भ

द. नीति, आचार और धर्म में साम्य और वैषम्य।

द्वितीय अध्याय

''नीति का अर्थ और इसके विविध संकेत''

भारतीय मनीषियों का सिद्धान्त है कि वर्तमान जीवन पूर्वजन्मोपार्जित कर्मों का परिणाम है और इस जीवन के कार्य कलाप भावी जीवन के निर्माण के असाधारण कारण हैं, अतः भविष्य को उत्तम बनाने के लिए तदनुरूप बीजारोपण आवश्यक है। अतएव आदि काल से ही मानव जीवन के लक्ष्य की सिद्धि में नीति के द्वारा ही उचित मार्ग का निर्देश होता रहा है।

इस आधार पर नीति तथा आचार का पर्यवेक्षण सर्वप्रथम वेदों के आधार पर किया जाता है, क्योंकि वेद ही भारतीय धर्म, दर्शन, सभ्यता और संस्कृति के सबसे प्राचीन व प्रारम्भिक ग्रन्थ हैं।

ऋग्वेद में सृष्टि के उद्‌भव के समय में यह दृष्टिगत होता है कि सर्वप्रथम प्रजापति ने महान तप से 'ऋत् एवं सत्य' को उत्पन्न किया, इसके पश्चात् सृष्टि काल पूर्ण होने पर रात्रि, समुद्र आदि की उत्पत्ति हुई।[1]

इस प्रारम्भिक प्रक्रिया से यह संकेत मिलते हैं कि ऋत् और सत्य जो अपने नियन्त्रण में उग्र है, दीक्षा, तप, प्रार्थना ये पृथ्वी को धारण करते हैं। सत्य और ऋत् के सन्दर्भ में यह भी संकेत मिलता है कि स्वयं देवता भी इनका पालन करते थे। जैसे कि सविता देव सत्य का पालन करते हैं, इन्द्र स्वयं कहते हैं कि ऋत् मुझे शक्तिमान व अन्य देवों का धारण करता है।[2]

---

1. ऋतं च सत्यं चामीधाप्तपसोध्यजायत।
   ततो रातयजायत ततः समुद्रो अर्णवः।। ऋक0– 10/190/1
2. अथर्व– 12/1/1, 1/24/1
   ऋक.– 8/15/11, 9/100/4
   सं0 श0 कौ0– पृ0 265

अतः वैदिक काल में ऋत् और सत्य मनुष्य जीवन के संचालन के मुख्य आधार थे। मनुष्य अपने जीवन में सुख और सम्पत्ति की इच्छाओं को सत्य और ऋत् के द्वारा नियन्त्रित करते थे।

यहाँ ऋत् का अर्थ नियम अथवा सुव्यवस्था तथा वस्तुओं का मार्ग इत्यादि है। यह जगत् के पदार्थों में व्यवस्था दिखलाता है।

ऋत् जगत् की सभी वस्तुओं से पहले हैं और वस्तु जगत उसकी अभिव्यक्ति मात्र है।

ऋत् नित्य और सबके पिता हैं। स्वर्ग और नरक ऋत् के कारण ही अपने इस स्वरूप में हैं।[१]

जबकि सत्य का अर्थ- सच, यथार्थ तथा वास्तविक है। अतः वैदिक समय में भारतीय आदर्श ऋत् और सत्य के अनुसार चलता था।[२]

---

1. ऋक्0– 10/121/1

2. सं0श0कौ0– 116

डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार ऋत् के स्वामी वरुण देव हैं। जो संसार के सृष्टा कहे गये हैं।[1]

अन्यत्र वरूण देव ऋत् के धारक देव माने गये हैं, क्योंकि इन वरुण देव के अटूट नियम पर्वत के समान अचल तथा दृढ़ता से स्थिर रहते हैं और यही ऋत् को धारण करने वाले हैं।[2]

ऋग्वेद में ऋत् के अन्तर्गत अन्य देवाताओं जैसे अग्नि देव, इन्द्र देव, का नाम भी संकेत किया गया है। प्रारम्भ में ऋत् सूर्य, चन्द्र, तारे, प्रातः सायं, दिन, रात्रि जगत् का मार्ग निश्चित करता था, सूर्य भी ऋत् के मार्ग का अनुसरण करते हैं। ऐसा उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है।[3]

इसी प्रकार ऋग्वेद में सत्य के विषय में भी यह कथन है कि सत्य को आधार देने वाले तथा उसके रक्षक सोमदेव हैं।[4]

अतः यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल में ऋत् और सत्य को धारण करने वाले सोमदेव ही थे।

---

1. भा0नी0वि0 पृ0–32
   हि0स0– पृ0 104
2. ऋक्0– 1/10/500
3. ऋक्0– 10/8/5
   वही– 1/24/8
4. ऋक्0– 2/13/7

नीति शब्द का सम्बन्ध संस्कृत की,'णीञ=नी' में 'क्तिन्' प्रत्यय से है, जिसका अभिप्रायः है ले जाने की क्रिया, दिग्दर्शन, प्रबन्ध, आचरण, औचित्य, पथ प्रदर्शन की क्रिया, राज्य रक्षा के लिए प्रयुक्त क्रिया इत्यादि।[१]

इस प्रकार नीति शब्द का अन्य अर्थ यह भी है कि ऐसा आचरण जो नियम के अनुसार किया गया हो, तथा जो मानव और समाज दोनों के लिए कल्याणकारी हो।[२]

उपनिषद् परम्परा भी नीति के सन्दर्भ में सत्य तथा ऋत् का संकेत करती हैं। जैसे कि एक स्थान पर कथन है कि ऋत् और सत्य अनुष्ठान किये जाने योग्य हैं। अतः निरन्तर इनकी उपासना करनी चाहिए।

सत्य की विशेष महिमा का उल्लेख करते हुए उपनिषद् में वर्णित है कि सत्य वचन ही ब्रह्मा है, जो सत्य को ब्रह्मस्वरूप मानकर उसका पालन करता है, वह समस्त लोकों पर विजय प्राप्त कर लेता है, क्योंकि सत्य की सदा ही विजय होती है।[३]

सत्य की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में एक उपनिषद् कहती है–
''सत्य ही जय को प्राप्त होता है, मिथ्या नहीं, सत्य के द्वारा ही देवयान मार्ग का विस्तार होता है।[४]

---

1. सं0श0कौ0– पृ0 611
2. सं0शि0कौ0– पृ0 177
3. ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च।। ई0द्वा0उ0– पृ0 80
4. तदैतदेत देव तदास सत्यमेव सयो हैतं महधक्षं प्रथमजं वेद।
   सत्य ब्रह्मति जयती मालोकान् जित इन्वसावसद्य एवमेतं।
   महद्ययां प्रथमजं वेदं सत्यं ब्रह्मेति सत्यं ध्येव ब्रह्म। ई0द्वा0उ0– पृ0 88

अतः सत्यवादी को सदैव विजय प्राप्त होती है तथा उसके लिए देवमार्ग प्रशस्त हो जाता है क्योंकि 'सत्य' ही ब्रह्मा है और उस मार्ग पर चलने वाला साक्षात् ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। ये भी नैतिक आचार हैं।[1]

आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में लिखा है कि नीति का प्रयोग नीति शास्त्रवत है।[2]

इसी सन्दर्भ में एक अन्य विद्वान् अपना मत प्रस्तुत करते हैं कि उपनिषद् काल में राजनीति को नीति के अन्तर्गत ही माना जाता था, तथा नीति के लिए तब 'एकायन' शब्द प्रयुक्त होता था।[3]

अतः उपनिषदों के अन्तर्गत अनेक विषयों से सम्बन्धित जैसे आत्मज्ञान, कर्मफल, अमरत्व, आत्मा, भूमा, स्वाध्याय सत्य, दम, दान, दया इत्यादि नैतिक उपदेशों का उल्लेख हैं।

---

1. सत्येन् लभ्यस्ततपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन् ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
   अंतः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।।
   सत्यमेव जायते नानृतं सत्येन् पन्था विततो देवयान्ः।
   येनाक्रमन्त्य ऋषयो ह्याप्तकामा यत्रतत्यत्यस्थ्य परमं निधानम्।।
   ई0 द्वा0 उ0 – पृ0 65
2. छान्दो0 –पृ0 714 पर शांकर भाष्य
3. उ0 स0 सं0– पृ0 244

महर्षि अरविन्द नीति के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हैं कि नीति का स्तर मुख्य रूप से मानसिक होता है तथा नैतिक स्तर, बौद्धिक स्तर है, इसलिए यह मानव विकास का अन्तिम स्तर नहीं है।

अतः जब तक सृष्टि के विकास की प्रक्रिया मानसिक स्तर पर रहेगी, तब तक इन नैतिक नियमों का वर्चस्व रहेगा।[१]

डॉ.राधाकृष्णन ने नीति दर्शन में समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया है। इनके नैतिक सिद्धान्त का आधार तन्त्र मीमांसा है। स्वयं उनके शब्दों में प्रजातन्त्र के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को पवित्र समझकर श्रद्धा करनी चाहिए। ये आचरण परम सत्ता के प्रति होना चाहिए, तभी हमारे विचार और हमारे कर्म एक साथ प्रवर्त्त होंगे।[२]

महात्मा गांधी के अनुसार नीति शुभ की तृप्ति हेतु निष्काम भाव से कार्य करने का आदेश देती है। उनके अनुसार ''आधुनिक युग में केवल साम व दान की नीति ही सच्ची नीति है, अहिंसा और परोपकार ही मुख्य नैतिक नियम हैं।[३]''

इसके अतिरिक्त जिन भारतीय व पाश्चात्य विद्वानों ने नीति तथा नैतिकता के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं, उनका कथन है कि मनुष्य के हृदय में जो आध्यात्मिक प्रेरणा अवस्थित है। नीति के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है। सम्पूर्ण समाज के प्रति हित कामना रखना तथा हित के लिए प्रयत्न करना सामाजिक नीति है जो मनुष्य को शुभ कर्मों में नियुक्त करती है।[४]

---

1. ला0 डि0 – पृ0 91–92
2. साम्ययोग – पृ0 212
3. भा0नी0शा0 – पृ0 250
4. भा0 नी0 वि0 – पृ0 53

"आचार का अर्थ और इसके संदर्भ"

आचार शब्द का संस्कृत व्याकरण के अनुसार जो शाब्दिक अर्थ किया जा सकता है, वह है 'चर्' धातु में 'घञ्' में प्रत्यय तथा 'आङ्' उपसर्ग। इसका अभिप्राय है चरित्र, आचरण, नीति, सदाचार विनय तथा शील।[१]

आचार के विषय में उपनिषद् परम्परा के अन्तर्गत मुण्डकोपनिषत् में उल्लेख है कि जो सत्यवादी होता है, वही विजयी होता है। अर्थात् सत्य से ही जय प्राप्त होती है मिथ्या से नहीं, सत्य से देवमार्ग का विस्तार होता है।[२]

सत्य का यह स्वरूप है कि सत्य भाषण से साक्षात् ब्रह्म की प्राप्ति होती है। सत्य के द्वारा ही देवमार्ग प्रशस्त होता है। यह आचार का ही तत्व है।[३] इसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में आचार को नीति का आधार कहा गया है। आचार को ही सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा गया है। आचारहीन पुरुष यदि पवित्रात्मा भी हो तो उसका परलोक व इहलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं। आचार्य मनु ने सज्जनों के आचरण को ही धर्म कहा है, तथा उसके दस लक्षणों का उल्लेख किया है, जो घृति, क्षमा, दम अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धीरता, विद्या, सत्य पालन, अक्रोध हैं।[४]

---

1. सं० श० कौ०– पृ० 177।
2. मु० उ० – पृ० 388, ई० द्वा० उ० – पृष्ठ 88।
3. ई.दा.उ. पृ.–88।
4. मनु– 1/108, 6/12

आचार के विषय में अनेक विद्वानों ने अपने अपने विचार व्यक्त किये हैं। प्राचीन ग्रन्थों में भी आचार व नीति के संकेत प्राप्त होते हैं। वशिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार आचार ही मनुष्य के व्यक्तित्व तथा चरित्र का निर्माण करता है। सद्आचरण मनुष्य को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करते हैं।[१]

आचार्य वृहस्पति का कथन है कि 'आचार' शब्द व्यवहार के अर्थ में प्रयुक्त होता है। व्यवहार शब्द की व्युत्पत्ति वि+अव+हार से होती है। जिसका अभिप्राय है कि व्यवहार वह कर्म है जिससे अनेक प्रकार के संदेह दूर किये जाते हैं।[२]

इस प्रकार उत्तम आचार सदाचार बन जाता है। महाभारत में आचार के लिए 'शील' तथा 'शिष्टाचार' शब्द का प्रयोग हुआ है, तथा जो आचरण शिष्टों के द्वारा विशेष रूप से किया जाता है वह उसमें ब्राह्मण के लिए कहा गया है। इसमें यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय, सत्य आदि सम्मिलित हैं। ये सभी कर्म शिष्टाचार कहलाते हैं। और इनका आचरण सदाचार कहलाता है।[३]

---

1. व0 ध0 – पृ0 115
2. व्या0 स्मृ0– पृ0 2/25/31
3. यज्ञोदानं तपो वेदाः सत्यं च द्विजसत्तम्।
   पंचैतानि पवित्राणि शिष्टाचारेषु सर्वदा ।। म0 भा0 वन पर्व– 198 / 57

इस प्रकार भारतीय ऋषियों के अतिरिक्त कुछ विदेशी व भारतीय विचारकों ने भी आचार शब्द की व्युत्पत्ति अपने-अपने अनुसार की है। जिसमें एक विदेशी विद्वान् का मत है कि आचार शब्द में मनुष्य के नित्य के कर्म, उसकी आदतें, मनुष्यों में सम्पन्न होने वाले रीति-रिवाज तथा मनुष्य का व्यक्तित्व व उसका चरित्र ग्रहण किया जाता है।[1] एक और विचारक का कथन है कि आचार शास्त्र एक ऐसा शास्त्र है जो मनुष्य जाति में सदैव शुभ के विचार का प्रतिपादन करता है। मनुष्य जीवन में अशुभ का परिहार्य व शुभ की प्राप्ति आचार के द्वारा ही होती है।[2]

एक अन्य विद्वान के अनुसार मानव जीवन में जो उचित अनुचित की दृष्टि है अर्थात् उचित तथा अनुचित का निर्णय मनुष्य में आचार के द्वारा ही संभव होता है।[3]

इस प्रकार इन सभी कथन से यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि मनुष्य जीवन की सफलता के लिए सदाचरण होना अत्यन्त आवश्यक है। आचरण का मुख्य आधार मनुष्य का चरित्र है और उसे सर्वोच्च शुभ से युक्त होना चाहिए।

---

1. मै0 ए0 – पृ0 1
2. प्रा. आ. – पृ0 3
3. ए. मै. ए. – पृ0 2

वैदिक परम्परा का अनुशीलन करने पर हम यह अनुभव कर सकते हैं कि उसकाल में ऋषि, मुनियों में जन कल्याण और विश्वबन्धुत्व की भावना होती थी, वे व्यक्तिगत रूप से यही चाहते थे, जन–जन का कल्याण हो और सभी सुखी रहें। उनकी इस भावना में जनहित के साथ ही विश्व के हित का भी भाव परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त पुरूषार्थ उनका मुख्य लक्ष्य था। यजुर्वेद में एक स्थान पर उल्लेख भी है कि हम पुरुषार्थ करते हुए सौ वर्ष तक प्राण धारण करें, क्योंकि देवता गण भी पुरुषार्थी मनुष्य की सहायता करते हैं।[१]

ऋषि गण समस्त प्राकृतिक शक्तियों में उनकी अतुल्य शक्ति के कारण उनमें देवत्व का अनुभव करते थे कि देवगण हमें शक्ति से सम्पन्न करें तथा हमारी रक्षा करें।[२]

वायु देव जो अप्रतिम शक्ति से सम्पन्न हैं, उनसे प्रार्थना करते हुए एक ऋषि कहता है कि वायुदेव हमारा कल्याण करके हमें दीर्घजीवी बनायें। यही भाव अन्यत्र भी देखने को मिलता है जहाँ एक ऋषि सोमदेव से प्रार्थना करते हुए कहता है कि वह उसे बलशाली तथा ओजवान बनायें।[३] यहाँ ऋषि की यह भावना सामने आती है कि वह यशस्वी हो तथा निर्भयता पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करें।[४]

---

1. यजु. – 10/4, 40/2
2. ऋक्. – 10/186/1
3. यजु. – 19/9
4. वही. – 19/23

इस प्रकार वैदिक काल में व्यक्ति अपने कल्याण के साथ अन्य जनों के कल्याण की भी कामना करता था। यहाँ पर उसका आचार एवं व्यवहार वैयक्तिक न होकर सामाजिक रूप में दिखाई देता है कि हम सब मिलकर चलें, मिलकर बोलें, हमारे विचारों में एकता हो हमारी मनोवृत्ति में एकता हो।[1]

अतः मनुष्य की इसी प्रकृति के अनुरूप वेदों में ऋत् के साथ सत्य जैसे नैतिक पदों की उद्भावना की गई तथा उसे व्यक्ति एवं समाज की शुचिता का प्रमुख सेतु मानकर वैयक्ति तथा सामाजिक नीति को एक सुदृढ़ आधार दिया गया।

नीति के माध्यम से ही मनुष्य के जीवन में नैतिकता का पदार्पण हुआ। इसी परम्परा ने व्यक्ति को भाव स्तर पर प्रभावित कर समाज को श्रेष्ठता प्रदान की। यही नीति वैयक्तिक स्तर पर व्यक्ति नीति तथा सामाजिक स्तर पर समाज नीति कहलाती है जो व्यक्ति व समाज को श्रेष्ठता प्रदान करती है।

---

1. ऋक्. – 10/191/23

उपनिषद् परम्परा में मनुष्य को परम आनन्द के लिए प्रेरित किया गया है। कठोपनिषद् में ये उल्लेख मिलता है कि प्रेय और श्रेय दोनों विभिन्न प्रयोजन वाले हैं, जो श्रेय है वह प्रेय से भिन्न है। यद्यपि ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं किन्तु ये मनुष्य को अपने आकर्षण में बाँधते हैं। वहाँ ये भी कहा गया है कि श्रेय और प्रेय में जो श्रेय को ग्रहण करने वाला है उसका ही कल्याण होता है।[१]

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उपनिषदें वेदकालीन सत्य का खण्डन करती हैं। मनुष्य के नैतिक व आचार मूलक कर्मों का पालन नहीं करती हैं। अपितु उपनिषदें भी ऋत् और सत्य को परम मान कर कहती हैं कि ऋत और सत्य स्वाध्याय तथा प्रवचन के द्वारा ही अनुष्ठान के योग्य हैं।[२]

उपनिषद् में एक स्थान पर यह भी कथन है कि सत्य भाषण करने वाला सदैव विजय प्राप्त करता है, मिथ्यावादी कभी भी सत्य का पालन नहीं करता। सत्य भाषण से देवयान मार्ग विस्तृत होता है, देवमार्ग का अनुसरण करके ही ऋषिगण सत्य के पर विधान को प्राप्त कर लेते हैं।[३]

---

1. अन्य श्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषे सिनीतः।
   तयोः श्रेयः आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थतः प्रेयो प्रणीते।। क0 उ0 – पृ0 3

2. ई0 द्वा0 उ0 – पृ0 80

3. सत्यमेव जयते नानृतम् सत्येन पन्था विद्यते देवयानः।
   येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्त कर्मा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्।। वही– पृ0 6

उपनिषदें ही अन्यत्र व्यक्ति के आचारत्मक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए धर्म के विषय में उल्लेख करतीं हैं कि यज्ञ, अध्ययन तथा दान यह तीनों धर्म के आधार स्तम्भ हैं।[1]

जो मनुष्य के लिए आचार के रूप में पालन करने योग्य हैं अतः ये वैयक्तिक आचार के उदाहरण कहे जाते हैं। मनुष्य द्वारा जब स्वयं के लिए निर्धारित किये गये इन आचरणों को तथा नैतिक मान्यताओं को ग्रहण किया जाता है तो वह व्यक्ति रूप में इन्हीं नीति व आचार का पालन करता है।

इस प्रकार नीति व आचार के सन्मार्ग पर चलते हुए मनुष्य स्वयं का कल्याण करता है तथा आचार का पालन करते हुए वह मानव जीवन के चरम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।[2]

---

1. त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथम स्त एवं द्वितीय ब्रह्मचर्याचार्य। तृतीयो ऽस्त्यन्तमात्मानमाचार्य कुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति। छा0–2/23/1

2. म0 शा0 अ0–पृ0 2

यज्ञ, अध्ययन, दान, अहिंसा, शौर्य, आत्मसंतोष, अतिथि सेवा, कर्मरति, यम नियम इनको नीति के रूप में कहा गया था। ये सभी मनुष्य के द्वारा ग्रहण करने योग्य थे। इनके द्वारा मनुष्य सांसारिक भोग को प्राप्त कर कल्याण की ओर अग्रसर होता था तथा ये मनुष्य को अपने चरम पुरुषार्थ मोक्ष की ओर बढ़ाते थे।

इसका कारण था कि इनका उपदेश व कथन ऐसे, गुरु व आचार्यों के द्वारा किया जाता था, जिन्होंने अपने जीवन में बड़ी ही पुष्टता के साथ इनका पालन किया होता था, तथा जो नीति और आचार को अपने जीवन में धारण करते थे।

आचार का पालन करना सभी के लिए अनिवार्य व महत्वपूर्ण होता था। इसका संकेत यहाँ मिलता है जब गुरु समावर्तन संस्कार करते समय शिष्य को, उपदेश देते हुए कहता था कि तुम सदा सत्य बोलो, सदा धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय में प्रमादी मत हो, देवकार्य तथा पितृकार्य में प्रभावी मत हो, अतिथि का सत्कार करो तथा जो भी हमारे सद्चरित हों उनका आचरण करो।[1]

---

1. सत्यं पद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमादः। आचार्याय प्रियं धनमाहात्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यास न प्रमदितव्यम्। मातृ देवो भव। पितृ देवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव। यान्यन वद्यानि कर्माणि तानि सेवितण्यानि। नो इतराणि।

ई. द्वा.उ.–पृ. 81–82

भारत की प्राचीन व्यवस्था में वर्ण व आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत जिन नैतिक मान्यताओं व आचारों का उल्लेख है उनका उद्देश्य सामाजिक रूप से नीति और आचार की स्थापना करना था।

तब वर्ण और आश्रम धर्म का पालन सामाजिक कर्त्तव्य कहलाता था। समाज की इस नियोजित व्यवस्था से व्यक्तिगत कल्याण के साथ ही साथ लोक कल्याण भी होता था।

इस कारण से एक आचार्य 'वर्ण' शब्द की उत्पत्ति 'वृ' धातु से 'वरण' करने अथवा 'चुनाव करने' से व्यक्त करते हैं। क्योंकि वर्ण के अनुसार ही व्यक्ति अपने कर्म या व्यवसाय का वरण करता था। इसलिए वह किसी वर्ण विशेष का कहा जाता था।

एक अन्य आचार्य वर्ण भेद का अभिप्राय व्यक्त करते हैं कि प्राचीन काल में वर्ण का विभाजन प्रवृत्ति के अनुसार होता था, क्योंकि यह माना जाता था कि ईश्वर या प्रकृति के अनुसार होता था क्योंकि यह माना जाता था कि ईश्वर या प्रकृति ने मनुष्य को स्वाभाविक प्रवृत्तियां दी हैं, उनका सबके कल्याण के लिए उपयोग करना ही उसका परम धर्म है।[1]

अतः यहाँ यह कहा जा सकता है कि उस समय जो प्रत्येक वर्णों के लिए स्वभाविक कर्म थे, वे व्यक्तिगत रूप से उस वर्ण के न होकर सामाजिक थे, जो नीति का निर्देश देते थे।

---

1. भा0 नी0 शा0 – पृ0 31

इसी प्रकार से आश्रम व्यवस्था है जो मनुष्य के जीवन में विकास की स्थितियां दिखलाती हैं जिसका अभिप्राय है 'सामाजिक श्रम'।

सभी मनुष्य अपने-अपने आश्रम में अवस्थित होकर प्रत्येक आश्रम धर्म व उनके कर्त्तव्यों का पालन करते हुए श्रम करते थे। अतः यह व्यवस्था ही सामाजिक होकर सामाजिकों के लिए नीति व आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हुई।

एक विद्वान् वर्णाश्रम व्यवस्था के सम्बन्ध में कहते हैं कि वर्णाश्रम व्यवस्था हिन्दू धर्म की एक महत्वपूर्ण व्यवस्था है, जो मानव जाति की सम्पूर्ण प्रवृत्ति को व्यक्त करती है।

वर्णाश्रम व्यवस्थाओं के माध्यम से ही मनुष्य के अन्दर मनुष्यता जाग्रत होती है, ये व्यवस्थायें ही उसे पशु से भिन्न दर्शाती है। अतः वर्ण व्यवस्था सम्पूर्ण मानव जाति की प्रकृति तथा आश्रम व्यवस्था मानव जाति की संस्कृति है। संसार में ये दोनों व्यवस्थायें अद्वितीय हैं और इसका शाश्वत् महत्त्व है।[1]

इस रूप में वर्णाश्रम व्यवस्था को हम अत्यधिक प्राचीन काल से सामाजिक व्यवस्था के रूप में देख रहे हैं, जो सभी मानव जाति के लिए नीति व आचार के रूप में प्रतिष्ठापित है। सभी वर्णों व जाति की जो प्रवृत्ति अथवा उनका जो कर्म था, वही उनके लिए सर्वश्रेष्ठ नीति और आचार थे और उनका पालन करना ही श्रेष्ठ धर्म था।

---

1. भा० नी० वि० –पृ० 125, 126

श्रीमद्भगवद् गीता चारों वर्णों की उत्पत्ति गुण व कर्म के विभाग से मानती है।[1] आश्रम तथा आश्रमीय कर्मो के विषय में यह उल्लेख मिलता है कि श्रेय की प्राप्ति के इच्छुक जहाँ पहुँचकर सभी बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं। अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं वही आश्रम कहलाता है।

आश्रम के समबन्ध में यह भी कथन है कि यह वह स्थान है जहाँ श्रम अथवा प्रयत्न किया जाय।

एक अन्य परिभाषा है कि आश्रम जीवन की वह स्थिति है जो मनुष्य को अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए पूर्ण रूप से श्रमशील बनाती है, व उसके अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाती है।[2]

अतः यह कहा जा सकता है कि यह प्राचीन व्यवस्थायें मानव जाति को सामाजिक स्तर पर अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए उन्हें सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती थीं। इन्हीं वर्णाश्रम व्यवस्थाओं से मनुष्य सद्आचरण व नीतियुक्त मार्ग ग्रहण करता था, तब वर्णों और आश्रमों के लिए जहाँ व्यक्तिगत स्तर पर नीति तथा आचार का कथन था, उसी रूप में सामाजिक स्तर पर भी वर्णों और आश्रमों की नीति व आचार का निर्धारण होता था। अतः वर्णाश्रम व्यवस्थाओं के अन्तर्गत मनुष्य जिन नीति व आचार का पालन करता था, वे एक ओर व्यक्ति के श्रेय के साधक थे तथा दूसरी ओर सामाजिक श्रेय के भी साधक थे।

---

1. भ0 गी0 – 4/13
2. हि0 वि0– 1 पृ0 427
3. कौ0अ0 भू0 – पृ0 43

:: नीति आचार और धर्म में साम्य व वैषम्य ::

धर्म बहुत व्यापक शब्द है। धर्म का साधारण अर्थ कर्त्तव्य से लिया जाता है। धर्म ग्रन्थों में ''ध्रियते यः स धर्मः' अर्थात् जो दूसरों के द्वारा धारण किया जाये वही धर्म है, ऐसा वर्णित है। यही धर्म सर्वजन हितकारी तथा समस्त प्रजा को धारण करने वाला है। महाभारत में धर्म के विषय में उल्लेख है कि सृष्टि कर्ता ब्रह्मा ने संसार में धर्म की प्रतिष्ठा रहे तथा मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह के वशीभूत न हो, इसलिए अत्यधिक विस्तृत एक लाख अध्यायों वाला ग्रन्थ, जिसे शुक्राचार्य ने एक हजार अध्यायों में संक्षिप्त कर 'शुक्रनीति' का नाम दिया।[१]

धर्म के द्वारा ही मनुष्य सात्विकता धारण करता है, जिससे ये चौरासी लाख योनियों में श्रेष्ठ माना गया है। सात्विक आहार-विहार को धारण कर ही वह 'मनुष्य' मनुष्य कहलाता है। जैसा कि कथन है- ''धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः'' अतः धर्म से युक्त उसे धारण करने वाला मनुष्य वास्तव में मनुष्य है तथा उससे रहित मनुष्य पशु के समान है।[२]

इस प्रकार धर्म प्राचीन समय से लेकर वर्तमान समय में भी पूरी तरह से व्याप्त है।

---

1. म0 भा0 शा0 – 29/19
2. वही शा0 – 294/29

बौधायन धर्म सूत्र में धर्म के तीन स्वरूप कहे गये हैं- प्रथम स्वरूप है 'श्रौत'। इसके अन्तर्गत वेदों में जो विभिन्न प्रकार यज्ञ तथा याग आदि वर्णित हैं, वे आते हैं तथा श्रौत धर्म कहलाते हैं।

द्वितीय स्वरूप स्मार्त धर्म है, जो स्मृतियों में वर्णित है तथा वर्णाश्रम के रूप में विख्यात है। तृतीय स्वरूप शिष्टाचार धर्म है, जो सामान्य धर्म के रूप में हुआ है।[1]

नीति अर्थ की व्युत्पत्ति 'नी' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर होती है। जिसका अर्थ पथ-प्रदर्शन करना अथवा ले जाना है।

''नीयन्ते...अवगम्यन्ते धर्मार्थकाममोक्षोपाया अनया अस्यां वा इति नीतिः।'' अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों तथा इन्हें प्राप्त करने के उपायों का निर्देश जिसके द्वारा होता है उसे नीति कहते हैं।[2] इस प्रकार मानव जीवन के लक्ष्य की सिद्धि में नीति के द्वारा ही उचित मार्ग का निर्देश होता है। मानव यदि नीति वचनों के अनुसार व्यवहार करता है तो अपना अभीष्ट फल प्राप्त करता है, और यदि नीति विरुद्ध आचरण करता है तो असफल होता है। यह अनुभव सिद्ध है।

इसलिए धर्म ग्रन्थों में वर्णित नीति निर्देशक तत्वों पर चलना ही कल्याणकारी है। नीति मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित है, एक राजनीति जिसे दण्डनीति भी कहते हैं तथा दूसरी धर्म नीति। अर्थ एवं काम विषयक नीति को राजनीति तथा धर्म व मोक्ष विषयक नीति को धर्म नीति कहते हैं।[3]

भारतीय दर्शन तत्वतः अनेकता में एकता को देखता है, अतः आदिकाल से ही मानव को सही मार्ग निर्देशन के लिए नीतिवचनों का प्रतिपादन होता आ रहा है।

---

1. बौ0 ध0 सू0 – पृ0 58
2. सं0 श0 कौ0– पृ0 628
3. नी0 शा0 अं0 (क)–पृ0 223, 225

इस प्रकार शाब्दिक अर्थों से तो धर्म एवं नीति कुछ पृथकता का आभास कराते हैं किन्तु दोनों में समानता की प्रचुरता है, क्योंकि जो धर्म विरूद्ध है, वह नीति विरूद्ध भी है, जो धर्म के नियम हैं वहीं नीति के नियम हैं।

धर्म और नीति का ज्ञान प्रायः सभी के लिए आवश्यक माना गया है। इसलिए पुरातन योगारूढ़ ऋषि मनीषियों ने अपनी ऋतंभरा प्रज्ञा द्वारा नीति, अनीति, धर्म-अधर्म, सत्-असत्, न्याय-अन्याय के सूक्ष्म परिणामों का उल्लेख कर जीव के उद्धारार्थ अपने-अपने ग्रन्थों में इन नीति नियमों का कहीं संक्षिप्त और कहीं विस्तृत वर्णन किया है।

आचार्य वृहस्पति के अनुसार 'आचार' शब्द व्यवहार के अर्थ में प्रयुक्त होता है। व्यवहार शब्द की व्युत्पत्ति वि+अव+हार से मानी गई है। जिसका अर्थ वि=विविध, अव=संदेह, हार=हरण हैं अर्थात् व्यवहार वह कर्म है, जिससे अनेक प्रकार के संदेह दूर किये जाते हैं।[१] उत्तम आचार ही सदाचार बन जाता है। महर्षि व्यास ने आचार को प्रथम धर्म माना है क्योंकि सदाचार में धर्म की प्रतिष्ठा है।

इस प्रकार धर्म वह धुरी है जिसके चारों ओर आचार व नीति रूपी फलक घूमते हैं। अर्थात् धर्म, आचार, एवं नीति कुछ पृथकता रखते हुए भी एक दूसरे के पूरक हैं। जिनका पालन कर मनुष्य अपना जीवन धन्य बना सकता है।[२]

---

1. सं0 श0 कौ0 -पृ0 611
2. नी0 शा0 अं0 (क) पृ0 229

इस प्रकार धर्म और आचार का इसी रूप में एक साथ अनुशीलन किया जाये तो इसमें पर्याप्त भिन्नता दिखाई देती हैं। उपनिषदें धर्म के तीन स्कन्धों का उल्लेख करती हैं। जो यज्ञ, अध्ययन तथा दान है। इसमें धर्म का प्रथम स्कन्ध यज्ञ कहा गया है, यज्ञ से अभिप्राय होम, हवन, इत्यादि। 'तप' को धर्म का द्वितीय स्कन्ध कहा गया है।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले ब्रह्मचारी का आचार्य के समीप अवस्थित रह कर तप इत्यादि से अपने शरीर को क्षीण करना धर्म का तृतीय स्कन्ध है।

इस विषय में शंकराचार्य जी का अभिमत है कि धर्म का जो प्रथम स्कन्ध है वह मुख्यतः ब्रह्मचारी के लिए है, द्वितीय तप करने वाले गृहस्थों के लिए उपयुक्त है, धर्म का तृतीय स्कन्ध वानप्रस्थी के लिए है और धर्म का जो चतुर्थ स्कन्ध है, जिसका उल्लेख प्रायः किया गया है वह परिव्राजक धर्म कहलाता है, जिसका अनुसरण करके मनुष्य स्वर्गलोक को प्राप्त करता है।

उपनिषद् परम्परा में वर्णित ये संकेत श्रेष्ठ आचार के साथ ही साथ आश्रम धर्म की ओर भी संकेत करता है।

---

1. छा0 उ0 पृ0 2 से 27 तक शांकर भाष्य

आचार्य मनु ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, घृति, क्षमा, दान, धीरता, विद्या, अक्रोध, अलोभ, धी इन सभी सद्गुणों को मनुष्य का धर्म कहा है।[१]

अर्थात् मानव के जीवन में जो सद्गुण हैं, वे सभी संयुक्त रूप से धर्म का श्रेष्ठतम् रूप हैं। इसलिए आचार्य ने कहा कि जिसके द्वारा संसार के किसी भी प्राणी को कष्ट पहुंचे उस धर्म को त्याग देना चाहिए। आचार्य मनु का ये कथन नीति के अनुकूल है क्योंकि नीति में भी व लोकहित व कल्याण की भावना होती है।

महर्षि व्यास ने भी धर्म की व्याख्या दी है और धर्म के महत्व का प्रतिपादन किया है। उन्होंने एक स्थान पर उल्लेख किया है कि मनुष्य के द्वारा पवित्र तीर्थस्थलों में स्नान करके शुद्ध व पवित्र जीवन व्यतीत करना श्रेष्ठ है किन्तु उससे भी अधिक श्रेष्ठ है कि मनुष्य अपने हृदय में सबके प्रति अकुटिल भाव रखे। अर्थात् हृदय से सभी का कल्याण सोचे। किसी के प्रति बुरे विचार मन में न लाये, तो यही परम धर्म है।[२] महाभारत का यह कथन नीति के सर्वथा अनुकूल ही है।

---

1. धृति क्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
   धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।
   म0 स्मृ0–2, या0 स्मृ0 / 2

2. म0 भा0 उद्योग पर्व – 3/2

वैशेषिक दर्शन के अन्तर्गत महर्षि कणाद् का कथन है कि 'यतोऽभ्युदयनिः श्रेयस् सिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिसके अनुसार आचरण करने पर मनुष्य के जीवन का अभ्युदय होता है, तथा मनुष्य पारलौकिक जीवन में निःश्रेयस् को प्राप्त करता है वही धर्म है। जिसका अनुसरण करने पर मनुष्य का कल्याण होता है।

यश, उन्नति तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है, वही धर्म कहलाता है। इसी रूप में धर्म की भाँति आचार भी मनुष्य और समाज की ऐहिक एवं पारमार्थिक उन्नति करता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि धर्म मनुष्य के अन्तःकरण को प्रवाहित करता है जिससे उसका आचरण पवित्र व शुद्ध होता है। किन्तु आचार बाह्य होकर भी व्यक्ति के अन्तःकरण की शुद्धता के हेतु बनते हैं। आचार ही नीति का केन्द्र बिन्दु है। नीति आत्मोत्थान व सफलता हेतु संसार की जटिलताओं एवं लोक व्यवहार की कुटिलताओं तथा जीवन संघर्ष में विजय पाने एवं रक्षा करने का श्रेष्ठ साधन है। इसलिए भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है कि ''नीतिरस्मि जिगीषताम्'' अतः नीति आचार और धर्म परस्परापेक्ष ही है।

---00000----

तृतीय अध्याय

तृतीय अध्याय

अ. महाभारत महाकाव्य की सामाजिक व्यवस्था-

वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, संस्कार, कर्म सिद्धान्त, पुनर्जन्म सिद्धान्त और नैतिकता।

ब. नैतिक तथा आचारात्मकदृष्टि से पारिवारिक संगठन-

माता-पिता, पुत्र-पुत्री, पति पत्नी, गुरु-शिष्य तथा अन्य सम्बन्धी।

स. लोक व्यवहार के वैयक्तिक एवं आचारात्मक सूत्र-

करुणा, मैत्री, हठ, ईर्ष्या, क्रोध, लोभ, शरीर, मन आत्मादि की नैतिक स्थिति।
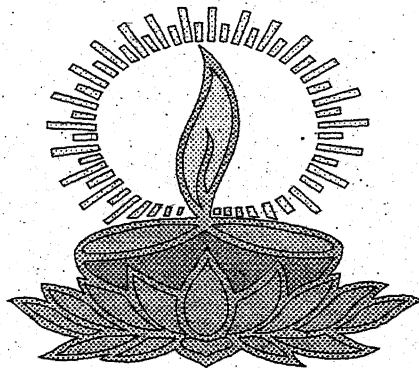
तृतीय अध्याय

वर्ण व्यवस्था

भारत वर्ष का प्राचीन समाज व्यवस्था में वर्ण व्यवस्था का जो स्वरूप उपलब्ध होता है वह आदि काल से ही विद्यमान रहा है। उदाहरणार्थ- इस देश के प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में पुरुष सूक्त के अन्तर्गत विराट पुरुष से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवम् शूद्र की उत्पत्ति हुई है।[1]

वैदिक काल के वर्ण व्यवस्था के क्रम को उपनिषदें भी विशद रूप में कहतीं हैं। तदनुसार प्रारम्भ में अकेला ब्रह्म था। वह ब्राह्मण रूप था, उसने अकेले प्रगति न कर सकने के कारण कामना से एक और रूप बनाया, यह दूसरा रूप क्षत्र था, जिसमें इन्द्र, वरूण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम मृत्यु तथा ईशान देवता थे। जब ब्रह्म इतने पर भी सन्तुष्ट न हुए तब उन्होंने वैश्यत्व का निर्माण किया, जिसमें बसु, रूद्र, आदित्य, विश्वदेव तथा मरूत देवता समाविष्ट थे। इतने पर भी न्यूनता अनुभव होने पर उन्होंने शूद्र के रूप में पूषन देवता का निर्माण किया।२

श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि गुण और कर्म के विभाग पूर्वक मैंने चारों वर्णों की सृष्टि की है।३

---

1. ऋग.– 10/90/1–2, 12,
2. बृ0 दा0 उप0– 1/4/11,5
3. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
   तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।। भ0 गी0 पृ0– 75, 254

स्मृतियाँ भारत में धर्मशास्त्र के सदृश सम्मानित हैं। वस्तुतः वे धर्मशास्त्र ही हैं। सभी स्मृतियों में मनुस्मृति प्राचीन भी है। और सर्वा–-धिक विशद् भी। इसमें वर्णित वर्ण व्यवस्था वैदिक काल के समान ही है। मनु के अनुसार ब्रह्मा ने मुख, हस्त, उदर व पैर से उत्पन्न वर्णों के कार्यों व आजीविका हेतु विभिन्न व्यवसायों का निर्धारण किया है।१

पुराण परम्परा में भी इसी वर्ण व्यवस्था के संकेत मिलते हैं जैसे कि विष्णु पुराण में कहा गया है कि सृष्टि कर्ता ब्रह्मा के मुख से सत्व गुण से सम्पन्न प्राणी अर्थात् ब्राह्मण, वक्षस्थल से रजोगुण युक्त अर्थात् क्षत्रियों की, पैरों से तमोगुण प्रधान प्राणियों अर्थात् वैश्यों की उत्पत्ति हुई इन्हीं को चतुर्वर्ण के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र माना गया।२

इस प्रकार ऐतिहासिक क्रम में वर्ण व्यवस्था के इस परिशीलन से स्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था अत्यन्त प्राचीन व्यवस्था है। इसमें विराट पुरुष अथवा ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने के कारण तथा सत्व प्रधान होने के कारण ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

---

1. सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।
   मुख बाहूरूपजानां पृथक् कर्माण्यकल्पयत्।। म0 स्म0– पृ0 17
2. ब्राह्मणाःक्षत्रियाः वैश्याः शूद्राश्य द्विजसत्तम्।
   पादो रुवक्षस्यांतो मुखतश्च समुद्गताः।।
   यज्ञानिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्माचकार वै।
   चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधन मुत्तमम्।।
   वि0पु0 – (1), पृ0 71
   ब्रह्म0 2/37/5, 3/72/95

'ब्राह्मण'

इस वर्ण को ब्रह्म ज्ञान की ओर उन्मुख रहने और सत्य की खोज में लीन रहने के कारण ब्राह्मण कहा गया। वैदिक काल से ही ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है कि जो राजा ब्राह्मण को ऐश्वर्य आदि प्रदान करके उसकी सुरक्षा करता है, उस राजा को देवगण संरक्षित करते हैं। ऐसे राजा शत्रु तथा प्रजाओं के ऐश्वर्य को विजित करते हुए महान बनते हैं।[१]

तैत्तिरीय संहिता के अनुसार पृथ्वीलोक पर देवताओं के रूप में ब्राह्मणों की ही सत्ता विद्यमान है।[२]

ब्राह्मणों में चार प्रमुख गुण ऐसे हैं जो उन्हें अन्य वर्णों की तुलना में श्रेष्ठ व ज्येष्ठ बनाते हैं। वे हैं ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व के तेज से युक्त होना तथा समाज को शिक्षित कर उनसे, अर्चना, दान, अजेयता, व अवध्यता को प्राप्त करना।[३]

---

1. अप्रतीतो जयति सं धनापि प्रति जन्यान्युतया सजन्या।
   अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवीन्त देवाः।।
   ऋक्.– 4/50/9
2. तै० सहि०– 1/7/3/1
3. प्रज्ञा वर्धमाना चतुरोधमनि ब्राह्मणमभिनिष्पादयति ब्राह्मण्ये प्रतिरूप चर्या।
   ....पच्मानश्च तुर्भिर्धर्मैः
   ब्राह्मणं शुभक्तयर्चया च दानेन ....।।
   श० ब्रा० – 11/5/7/1

समाज में ब्राह्मण की सर्वोच्च स्थिति परवर्ती समय तक स्वीकारी जाती रही। उस समय तक यही अवधारणा प्रचलित थी कि ब्राह्मण के साथ दुर्व्यवहार तथा उनकी हिंसा करने वाला राजा मनुष्य योनि से पतित होकर अन्य बुरे लोकों को प्राप्त करता है तथा समाज द्वारा निन्दित होता है।[१]

उस समय में ब्राह्मण के लिए यह अनिवार्य था कि वह ज्ञानी तथा सभी शास्त्र विद्याओं से सम्पन्न हो।[२]

एक उपनिषद् यह कहती है कि ब्राह्मण सदा धर्ममय कवच से सुरक्षित रहता है, उसे किसी से किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। वह ब्रह्म को जानता है, ब्रह्म ज्ञान के द्वारा वह अपनी आत्मा को पवित्र व बलवान बनाता है।[३]

ब्राह्मण का सर्वश्रेष्ठ गुण है उसके द्वारा सत्य का पालन करना। ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करने की इच्छा वाले सत्यकाम से जब महर्षि गौतम ने उनके गोत्रादि के विषय में प्रश्न किया तब सत्यकाम ने अपने परिवार का सत्य परिचय दिया तब उनसे गौतम ऋषि ने कहा कि ऐसा स्पष्ट भाषण कोई ब्राह्मणेतर नहीं कर सकता, अतः तुम वास्तव में ब्राह्मण हो ।

---

1. ई0 द्वा0 उ0 पृ0 – 281 ।

2. तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मनिष्ठा स एता मा उद्वतामिति।
   ई0द्वा0उ0–पृ0 317

3. ऐ0 उ0 – पृ0 92

4. छान्दो0 – पृ0 384

महाभारत महाकाव्य में भी ब्राह्मण की ऐसी ही स्थिति का संकेत तब किया गया है जब यह कहा गया है कि ब्राह्मणों की उत्पत्ति भगवान् नारायण के मुख से हुई है। अतः वे ब्राह्मण सर्वात्मा, सर्वकर्ता और सर्वभावस्वरूप हैं।[1]

महाभारत महाकाव्य ब्राह्मण की उसी स्थिति का वर्णन करता है जिसका कथन वेद-शास्त्र और अनेकानेक स्मृतियाँ करती रही हैं। महाभारत में विदुर धृतराष्ट्र से ब्राह्मण के धर्म के विषय में कहते हैं कि जो प्रतिदिन जल से संध्या, स्नान, तर्पण आदि करता है, नित्य यज्ञोपवीत धारण करता है, नित्य स्वाध्याय करता है, पतितों का अन्न त्याग देता है, सत्य बोलता है और गुरु की सेवा करता है, वह ब्राह्मण कभी ब्रह्म लोक से भ्रष्ट नहीं होता।[2]

भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन से ब्राह्मण के धर्म का उल्लेख करते हुए कहा है, ब्राह्मण को अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान तथा प्रतिग्रह इन छैः वृत्तियों का आश्रय लेना चाहिए। इनमें से तीन (याजन, अध्यापन, दान) ये ब्राह्मण की जीविका के साधन हैं।[3]

---

1. वेदपुराणेतिहास प्रामाण्यान्नारायण मुखोद्धताः।
   सर्वात्मनः सर्वकर्तारः सर्वभावाश्च ब्राह्मणाश्च।।
   महा0– 12/342/20 ।
2. नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी।
   सत्यं ब्रुबन गुरवे कर्म कुर्वन् न ब्राह्मणइच्यवते ब्रह्मलोकात्।।
   महा0– 5/40/25 ।
3. अधीत्याध्यापनं कुर्यात् तथा यजन याजने ।
   दानं प्रतिगृहं चापि षडगुणां वृत्तिमाचरेत ।।
   त्रीणि कर्माणि जानीतं ब्राह्मणानां तु जीविका।
   याजनाध्यापने चोभे शुद्धाच्चापि प्रतिग्रहः।। महा– 14/45/21, 22 ।

प्रसिद्ध ग्रन्थकार कौटिल्य ने ब्राह्मण के लिए वर्ण धर्मों का कथन किया है। वे हैं, अध्ययन, अध्यापन यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह। इसका अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण के लिए लगभग उन्हीं कर्तव्यों का कथन किया गया है जिनका कथन वेदों में व स्मृतिकारों ने किया है।[१]

महाभारत महाकाव्य में ब्राह्मण के लिए जिन धर्मों एवं कर्त्तव्यों का कथन है उनके विषय में यह कहा गया है कि इस वर्ण के आवश्यक कर्तव्य हैं कि जो मन और इन्द्रिय को संयमित रखने वाला सोमयाग करके सोमरस का पान करने वाला, सदाचारी, दयालु सहनशील निष्काम, सरल, मृदु, क्रूरता रहित और क्षमाशील है वही ब्राह्मण कहलाने योग्य है। यही ब्राह्मण के स्वभाव हैं। इसके विपरीत स्वभाव वाला ब्राह्मण न होकर पापाचारी है।[२]

इसके अतिरिक्त यज्ञ, वेदों का अध्ययन, किसी की चुगली न करना, किसी भी प्राणी को मन वाणी और क्रिया द्वारा क्लेश न पहुँचाना अतिथियों का पूजन करना, इन्द्रियों को वश में रखना, सत्य बोलना, तप करना ये ब्राह्मण के मुख्य कर्त्तव्य एवं धर्म हैं।[३]

---

1. स्वधर्मो ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यजनं–याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति।
   कौ0 अ0 – पृ0 12 ।
2. यः स्याद् दान्तः सोमपश्चार्यशीलः सानुक्रोशः सर्वसहो निराशीः।
   ऋजुर्मृदुरनृशंसः क्षमावान स वै विप्रो नेतरः पापकर्मा।।
   महा0– 12/63/8 ।
3. यज्ञः ऋतमपैशुन्यमहिंसातिथिपूजनम्।
   दमः सत्यं तपो दानमेतद् ब्राह्मणलक्षणम्।।
   महा0 – 12/76/15 ।

क्षत्रिय

वर्ण व्यवस्था के स्थापित स्वरूप में क्षत्रिय का स्थान ब्राह्मण के उपरान्त है। उपनिषदें क्षत्रियों के विषय में संकेत करती हैं कि प्रारम्भ में ब्रह्मा ने अकेले प्रगति न कर सकने के कारण कल्याणार्थ क्षत्रियों को उत्पन्न किया। ये क्षत्रिय सभी का संरक्षण करने के कारण सर्वश्रेष्ठ माने गये, इनके विषय में यह भी उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मण भी राजसूय यज्ञ में क्षत्रिय से नीचे बैठकर उनकी स्तुति करते हैं।[१]

पूर्ववर्ती समय में ब्राह्मण ही केवल ब्रह्मविद्या को ग्रहण करने पर उसका उपदेश देने का अधिकारी था, किन्तु अनेक स्थलों पर क्षत्रियों द्वारा भी विभिन्न विद्याओं का उपदेश दिया गया है। जैसे कि एक उपनिषद् में यह संकेत मिलता है कि प्रवाहन नामक राजा ने गौतम को उपदेश देते हुए कहा था कि पूर्वकाल में ये विद्या क्षत्रियों के पास ही थी, इसी से सम्पूर्ण लोकों में इस विद्या द्वारा क्षत्रियों का ही अनुशासन रहा है।[२]

एक अन्य स्थान पर यह भी उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय के मध्य चार वेद उसी प्रकार से हैं, जिस प्रकार रथ की नाभि में तीलियाँ लगी होती हैं।[३]

---

1. तस्मात् क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपासते राजसूये।
   एवं तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म।।
   ई0द्वा0उ0– पृ0 281
2. छान्दो0– पृ0 479
3. अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
   ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च।।
   प्र0उ0– पृ0 36, हि0स0– पृ0 112

क्षत्रिय वर्ण वाह्य और अभ्यान्तर सभी शत्रुओं से प्रजा की रक्षा करने में सदैव तत्पर रहने के कारण सम्मानित वर्ण माना जाता था। जो राजा के पद पर अधिष्ठित होते थे, वे अपनी सम्पत्ति का प्रयोग प्रजा के कल्याणार्थ व परोपकार हेतु करते थे। राजा जनक का नाम जिसमें अग्रगण्य है जो ब्राह्मणों को सहस्त्रों गाय दान करते थे।[1]

राजा जनक के द्वारा ब्रह्मवादिनी गार्गी व अन्य महर्षियों को शास्त्रार्थ में पराजित करने वाले ब्रह्मज्ञानी याज्ञवलक्य को दस सहस्त्र गौएँ दान में दी गयीं थीं। इस प्रकार राजा जानश्रुति पौत्रायण के द्वारा छेः सौ गौएँ रैक्व को दान में दी गयी थीं।[2]

क्षत्रिय की उत्पत्ति के विषय में जो तथ्य सामने आते हैं उसमें पर्याप्त अन्तर देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ वैदिक साहित्य में क्षत्रिय की उत्पत्ति ब्रह्मा की भुजाओं से मानी जाती है, किन्तु पुराण साहित्य में क्षत्रिय की उत्पत्ति वक्षस्थल से मानी गई है।[3]

महाभारत में क्षत्रिय धर्म का उल्लेख करते हुए भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध में न भागना, दान देना, स्वाभिमान ये सभी क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं व यही उनके धर्म हैं।[4]

---

1. ई. द्वा. उ.– पृ. 317, 321
2. छान्दो० – 4/2/4 ।
3. ब्रह्म० – 2/5/108, वा०पु०– 54/112 ।
4. शौर्य तेजो धृतिदक्ष्यिं युद्धे चाप्यपलायनम्।
   दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।।
   महा० – 6/42/43 ।

महाभारत में क्षत्रिय वर्ण की उत्पत्ति के विषय में उल्लेख मिलता है कि जो अपने ब्राह्मणोचित धर्म का परित्याग करके विषय-भोग के प्रेमी, तीखे स्वभाव वाले, क्रोधी और साहस का काम पसन्द करने वाले हो गये और इन्हीं कारणों से जिनके शरीर का रंग लाल हो गया, वे ब्राह्मण क्षत्रिय भाव को प्राप्त हुए, क्षत्रिय कहलाने लगे।[१]

क्षत्रियों के धर्म का उल्लेख करते हुए महाभारत में कहा गया है कि क्षत्रिय राजा दूसरा कर्म करे या ना करे, प्रजा की रक्षा करने मात्र से वह कृतकृत्य हो जाता है। उसमें इन्द्र, देवता, सम्बन्धी बल प्रधानता होने से राजा 'एन्द्र' कहलाता है।[२]

क्षत्रियों का महत्व वर्णित करते हुए पितामह युधिष्ठिर से कहते हैं कि चारों आश्रमों के धर्म, यति धर्म, तथा लौकिक और वैदिक उत्कृष्ट धर्म सभी क्षत्रिय धर्म में प्रतिष्ठित हैं। ये सारे कर्म क्षात्र धर्म पर अवलम्बित हैं। यदि क्षत्रिय धर्म प्रतिष्ठित न हो तो जगत् के सभी जीव अपनी मनोवांछित वस्तु पाने से निराश हो जायें।[३]

---

1. कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रिय साहसः।
   त्यक्त स्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः।। महा0–12/188/11 ।
2. परिनिष्ठत् कार्यस्तु नृपतिः परिपालनात्।ण
   कुयदियन्नं वा कुर्यादैन्द्रो राजन्य उच्यते।। महा0– 12/60/20 ।
3. चातुराश्रम्यधर्माश्च यतिधर्माश्च पाण्डव।
   लोकवेदोत्तराश्चैव क्षात्रधर्मे समाहिताः।।
   सर्वाण्येतानि कर्माणि क्षात्रे भरतसप्तम्।
   निराशिषो जीवलोकाः क्षात्रधर्मेऽप्यवस्थिते।।

   महा0– 12/64/1,2 ।

वैश्य

जब ब्रह्मा ब्राह्मण व क्षत्रिय से सन्तुष्ट न हुए, तब उन्होंने वैश्यत्व का निर्माण किया, जिसमें वसु, रुद्र, विश्वदेव, आदित्य, देवता सम्मिलित थे। व्यक्ति के सम्पूर्ण शरीर का अधिकांश भार उरू प्रदेश द्वारा वहन किया जाता है पुरुष सूक्त में विराट पुरुष की जंघाओं के रूप में वर्णन किये जाने का भी यही अभिप्राय था।

समाज के आर्थिक पक्ष को संभालने और सुदृढ़ बनाने का भार वैश्य वर्ण पर ही था। समाज का यह वर्ण धन की दृष्टि से सर्वाधिक समृद्ध था।

एक उपनिषद् यह संकेत करती है कि जिस मनुष्य का कर्म श्रेष्ठ व उत्तम आचरण होता है, वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, या वैश्य इत्यादि वर्ण में जन्म लेता है। ये तीनों द्विजाति में आते हैं।[1]

मनु के अनुसार अध्ययन करना, यज्ञ इत्यादि कर्म करना, दान में सदैव तत्पर रहना, वाणिज्य कर्म में संलग्न रहते हुए वैश्य को पशुपालन एवं अन्नादि पदार्थों का संरक्षण करना चाहिए।[2]

---

1. छान्दो0– पृ0 529 ।

2. पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
   वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।।
   म0 स्मृ0– पृ0 18 ।

महाभारत में वैश्य के धर्म का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वैश्य यदि वेदशास्त्रों का अध्ययन करने ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा आश्रितजनों को समय-समय पर धन देकर उनकी सहायता करें और यज्ञों द्वारा तीनों अग्नियों के पवित्र धूम की सुगन्ध लेता रहे तो वह मरने के पश्चात् स्वर्गलोक में दिव्य सुख भोगता है।[1]

खेती, गौपालन और क्रय-विक्रय रूप सत्य व्यवहार ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं।[2]

अर्थशास्त्र के प्रणेता आचार्य कौटिल्य वार्ता विद्या का उल्लेख करते हुए कृषि, पशुपालन व वाणिज्य का उसके अन्तर्गत समावेश करते हैं तथा इस विद्या को धन, धान्य, पशु-हिरण्य, ताम्र आदि पदार्थों को प्रदान करने वाली तथा सेवक सेविकाओं का उपकार करने वाली माना है।

---

1. वैश्योऽधीत्य ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्च ।
   धनैः काले संविभज्यां श्रितांश्च।।
   त्रेतापूतं धूममाघ्राय पुण्यं।
   प्रेत्य स्वर्गे दिव्यसुखानि भुड्क्ते।। महा0-5/40/27 ।
2. कृषिगौरक्ष्य वाणिज्यं वैश्य कर्म स्वभावजम्। श्रीम.गी.- 18/44 ।
3. कृषिपशुपाल्ये वाणिज्याच वार्ता।
   धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिप्रदानादौपकारिकी।।
   कौ. अ.- पृ0 15 ।

इसके अतिरिक्त महाभारत में अन्यत्र वैश्य के धर्म का संकेत मिलता है। पशुओं का पालन, खेती, व्यापार, अग्निहोत्र कर्म, दान, अध्ययन, सन्मार्ग का आश्रय लेकर, सदाचार का पालन, अतिथि सत्कार, शम, दम, ब्राह्मणों का स्वागत और त्याग- ये सब वैश्यों के सनातन धर्म हैं।[1]

अतः वैश्य समाज का एक महत्वपूर्ण वर्ग था जो अन्य वर्णों के लिए उपकारी था। अन्य वर्ग एक प्रकार से उस पर आश्रित थे, क्योंकि कृषि और व्यापारी इसी के हाथ में थे और कृषि तथा व्यापार से ही सम्पूर्ण समाज की जीविका चलती थी। कृषि जीवों के उदर पूर्ति में परम सहायक थी, और वाणिज्य से जीवन का अन्य व्यवहार चलता था।

---

1. **वैश्यस्य सततं धर्मः पाशुपाल्यं कृषिस्तथा।**
   अग्निहोत्र परिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च ।।

   वाणिज्यं सत्पथस्थानमातिथ्यं प्रशमो दमः।
   विप्राणां स्वागतं त्यागो वैश्यधर्मः सनातनः।।
   महा0– 13/141/54, 55 ।

शूद्र

यह वर्ण चारों वर्णों में सबसे निम्न स्थान पर माना गया है। वेदों में शूद्र की उत्पत्ति विराट पुरुष के पैरों से वर्णित की गई है। शूद्र वर्ण अन्य तीनों वर्णों की सेवा परिचर्या करके उन्हें स्वस्थ एवं सकुशल रखता था। समाज की सेवा का सम्पूर्ण भार शूद्रों पर ही था।

शूद्रों के देवता पूषन थे। ये देव सभी का भरण-पोषण करने के कारण शक्ति सामर्थ्य से युक्त हैं और सभी वर्णों के द्वारा पूजा के योग्य हैं। इस प्रकार का वर्णन भी एक स्थान पर मिलता है।१

शूद्रों के अन्तर्गत लौहकार, बढ़ई, सेनानी व दास आते थे। इनमें से जो सबसे निम्न व अशिष्ट व्यवहार वाले होते थे, वे चाण्डाल कहलाते थे।२

सामाजिक व्यवस्था को वर्गीकृत करते हुए आचार्य शंकर ने शूद्र और ब्राह्मण वर्ण की स्त्री से सन्तान को चाण्डाल नाम से सम्बोधित किया है।३

---

1. ई0 द्वा0 उ0 - पृ0 281-282 ।
2. प्र0 भा0 - पृ0 71 ।
3. ब्रह्म0 - पृ0 4/3/32 पर शांकर भाष्य ।

स्मृतिकार मनु ने शूद्र के लिए तीनों द्विज वर्णों की समुचित सेवा करके उन्हें सन्तुष्ट करना ही प्रमुख कर्त्तव्य बताया है। तीनों द्विज वर्णों की सेवा के द्वारा ही शूद्रअपनी आजीविका धारण करता था।[१]

आचार्य कौटिल्य ने शिल्पकर्म, चित्रकर्म, नृत्य, गीत, विभिन्न, वाद्य-वादन इत्यादि कार्यों को कहा है।[२]

महाभारत महाकाव्य में शूद्र के लिए यही विधान किया गया है कि वाणिज्य, कारीगर के कार्य, शिल्प व नाट्य भी शूद्र का धर्म है। उसे अहिंसक, सदाचारी और देवताओं तथा ब्राह्मणों का पूजक होना चाहिए।[३]

---

1. म0 स्म0- पृ0 10/121-123 ।

2. कौ0अ0- पृ0 13 ।

3. वार्ता च कारूकर्माणि शिल्पं नाट्यं तथैव च।
अहिंसकः शुभाचारो द्वैवतद्विजवन्दकः।।
शूद्रो धर्मफलैरिष्टै स्वधर्मणोपयुज्यते।
एवमादि तथान्यच्च शूद्रधर्म इति स्मृतः।।
महा0 - 13/141/ 60, 61 ।

आश्रम व्यवस्था

आश्रम शब्द की व्युत्पत्ति 'आ' उपसर्ग पूवर्क 'श्रम' धातु से हुई है। आश्रम्यन्ति अस्मिन् इति आश्रमः-अर्थात् एक ऐसा जीवन स्तर जिसमें व्यक्ति अत्यधिक श्रम करता है। अर्थात् आश्रम मानव जीवन का वह स्थल है जहाँ वह अपने कर्तव्यों के पालन हेतु श्रम करता है।[1]

प्राचीन समय में आश्रमों की संख्या चार मानी गयी थी, जिसमें प्रथम गृहस्थाश्रम, द्वितीय ब्रह्मचर्याश्रम तृतीय वानप्रस्थाश्रम तथा चतुर्थ संन्यासाश्रम था।

ऋग्वेद में आश्रमों की व्यवस्था का संकेत करते हुए ब्रह्मचर्याश्रम का पालन करने वाले ब्रह्मचारी का उल्लेख मिलता है।[2]

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में वैदिक छात्र और ब्रह्मचर्य की अतिरंजित प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि गुरु उपनयन संस्कार के पश्चात् ही बालक को आश्रम में रहने की अनुमति देता है।[3]

---

1. आश्रमाम्यन्ते श्रेयोऽर्थिनः पुरूषा इत्याश्रमाः।
   आश्राम्यन्त्यत्र अनेन वा।
   यद्वा आसमन्तात् श्रमो वा। स्वधर्म साधन क्लेशात्।
   वै0सा0सं0 – पृ0 175 ।

2. ऋग.– 10/109/5 ।

3. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं वृणुते गर्भमन्तः। अथर्व0–11/5/3, 11/7/1...26

उपनिषद् काल तक आश्रम व्यवस्था पूर्णतः स्थापित हो चुकी थी। उपनिषद् परम्परा में चारों आश्रमों का स्पष्ट कथन तथा उनके प्रमुख धर्म एवं कर्त्तव्यों आदि का सविस्तार वर्णन है।[1]

ब्रह्मचर्याश्रम

आचार्य मनु ने ब्रह्मचर्याश्रम के विषय में उल्लेख किया है कि इस आश्रम का आरम्भ उपनयन संस्कार से होता है। ब्रह्मचारियों के कर्त्तव्य एवं उनके व्रतों का भी उल्लेख उन्होंने किया है। उनके अनुसार ब्रह्मचारी को मधु, मांस, रस, सुगन्ध माला सभी प्रकार के आसव और प्राणियों की हिंसा को त्याग देना चाहिए।

वह संगीत-नृत्य, काम-क्रोध-लोभ, कलह-निन्दा, असत्य-भाषण से सदैव दूर रहे। उसे इन्द्रिय संयम, लोभ का परित्याग व भिक्षाटन का पालन करना चाहिए। इस प्रकार ब्रह्मचारी अपने लिए कहे गये व्रतों व नियमों का पालन करे तथा विधिपूर्वक वेदों व शास्त्रों के अध्ययन में संलग्न रहे।[2]

---

1. छान्दो0 – पृ0 215 ।
2. वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धं माल्यरसानस्त्रियः।
   अभ्यंगमंजनं चक्षोरूपानच्छत्र धारणम्।।
   कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्।
   द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथा नृतम्।

   एकः शयीत् सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित्।
   कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः।।
   मनु0 स्म0– 2/177, 180 ।

महाभारत महाकाव्य में यह कथन है कि जो ब्रह्मचारी है वह मूंज की मेखला पहने, जटा धारण करे, प्रतिदिन स्नान करे, यज्ञोपवीत धारण करे, पवित्र और एकाग्रचित होकर दोनों समय अग्नि में हवन करे। सदा बेल या पलाश का दण्ड लिए रहे। रेशमी वस्त्र या मृगचर्म धारण करे। वेद के स्वाध्याय में लगा रहे तथा लोभहीन होकर नियम पूर्वक व्रत का पालन करे।[१]

जो ब्रह्मचारी सदा नियम परायण होकर श्रद्धा के साथ शुद्ध जल से नित्य देवताओं का तर्पण करता है उसकी सर्वत्र प्रशंसा होती है।[२]

ब्रह्मचारी के विषय में अन्यत्र संकेत मिलता है कि गुरु के बुलाने पर ही उसके समीप जाकर पढ़े, गुरु की सेवा में बिना कहे लगा रहे, रात में गुरुजी के सोने के बाद सोवे और सबेरे उनसे पहले ही उठ जाय। वह विनम्र जितेन्द्रिय धैर्यवान् सावधान और स्वाध्यायशील हो। इस नियम से रहने वाला ब्रह्मचारी सिद्धि को पाता है।[३]

---

1. द्विकालामग्निं जुहानः शुचिभूत्वा समाहितः।
   धारयीत सदा दण्डं बैल्वं पालाशमेव वा।।
   क्षौमं कार्पासिकं चापि मृगाजिनमथापि वा।
   सर्वे काषायरक्तं वा वासो वापि द्विजस्य ह।।
   मेखलाच भवेन्मोज्जी जटी नित्योदकस्तथा।
   यज्ञोपवीती स्वाध्यायी अलुब्धो नियमव्रतः।। महा0–13/46/4,5,6
2. पूताभिश्च तथैवाब्दिः सदा दैववततर्पणम्।
   भावेन् नियतः कुर्वन् ब्रह्मचारी प्रशस्यते।। महा0– 13/46/7 ।
3. महा0– 1/91/2 ।

ब्रह्मचारी गुरु के सोने के पश्चात् नीचे आसन में सोये और उनके जागने से पहले ही उठ जाये। गुरु के घर में एक शिष्य या दास के करने योग्य जो कुछ भी कार्य है, उसे वह स्वयं पूरा करे। गुरु जो भी आज्ञा दें, उसे शिरोधार्य करके शीघ्र गुरु के समीप जाकर खड़ा हो जाये। मेरे लिए क्या आज्ञा है ऐसा पूछते हुए एक आज्ञाकारी सेवक की भांति गुरु का सारा कार्य करने को तत्पर रहे और सभी कर्मों के सम्पादन में कुशल हो।[१]

एक स्थान पर यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी नित्य निरन्तर मन और इन्द्रियों को वश में रखते हुए एवं दीक्षा के पालन में तत्पर रहे। वेदों का स्वाध्याय करते हुए सदा कर्त्तव्य कर्मों के पालन पूर्वक गुरु गृह में निवास करे।[२]

---

1. जघन्यशायी पूर्वे स्यादुत्थाय गुरूवेश्मनि।
   यच्च शिष्येण कर्त्तव्यं कार्ये दासेन् वा पुनः।।
   कृतमित्येव तत्सर्वे कृत्वा तिष्ठते पार्श्वतः।
   किंकरः सर्वकारी स्यात् सर्वकर्मसु कोविदः।।
   महा0– 12/242/17,18 ।

2. ब्रह्मचारी व्रती नित्यं–नित्यं दीक्षापरो वशी।
   परिचार्य तथा वेदं कृत्यं कुर्वन् वसेत् सदा।।
   महा.– 12/61/19 ।

महाभारत में एक स्थान पर महर्षि भृगु ने इस आश्रम के विषय में कहा है कि भगवान् ब्रह्मा ने पूर्वकाल में धर्म की रक्षा हेतु चारों आश्रमों को निर्देश दिया था। उनमें से ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक गुरुकुल को ही पहला आश्रम कहते हैं। उसमें रहने वाले ब्रह्मचारी को बाहर भीतर की शुद्धि वैदिक संस्कार तथा व्रतों-नियमों का पालन करते हुए अपने मन को वश में रखना चाहिए।

सुबह शाम दोनों समय सन्ध्योपासना, सूर्योपासना और अग्निहोत्र द्वारा अग्निदेव की आराधना करनी चाहिए। तन्द्रा और आलस्य त्यागकर प्रतिदिन गुरु को प्रणाम करे। वेदों के अभ्यास व श्रवण से अपनी अन्तरात्मा पवित्र करे। प्रातः-शाम, दोपहर तीनों समय स्नान करे। ब्रह्मचर्य का पालन, अग्नि की उपासना और प्रतिदिन भिक्षा मांगकर लाये, भिक्षा में जो कुछ प्राप्त हो, वह सब गुरुको अर्पण कर दे।[१]

एक स्थान पर यह भी कथन है कि तपस्या, गुरु की सेवा व ब्रह्मचर्य पालन इन तीनों के साथ ही वेदाध्ययन का कार्य सम्पन्न कर, हवन कर्म द्वारा देवताओं के तर्पण द्वारा पितरों के ऋण से मुक्त हो, वेदाध्ययन समाप्त कर गुरु को दक्षिणा देकर और उनकी आज्ञा लेकर समावर्तन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचारी घर लौटे।[२]

---

1. तत्र गुरुकुल वासमेव प्रथममाश्रय मुदाहरन्ति। सम्यक यत्र शौच संस्कार नियमव्रत विनियतात्मा उभे संध्ये भास्कराग्नि दैवतान्युपस्थाय बिहाय तन्द्रयालस्ये गुरोरभिवादन् वेदाभ्यास श्रवणपवित्रीकृतान् अंतरात्मा त्रिषवणमुपस्पृश्य ब्रह्मचर्याग्नि परिचरण गुरुशुश्रूषानि।।
महा0 12/191/8 ।

2. तपसा गुरुवृत्या च ब्रह्मचर्येण वा विभो। देवतानां पितृणां चाप्यनृणो ह्यनसूयकः वेदानधीत्य नियतो दक्षिणामपवर्ज्य। अभ्यनुज्ञामथ प्राप्य समावर्तेत् वै द्विजः। महा0– 12/326/15,16।

गृहस्थाश्रम

वेदों में भी पारिवारिक संगठन व पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि हेतु चतुराश्रम का उल्लेख किया गया है। गृहास्थाश्रम के सन्दर्भ में ऋग्वेद में सूर्य पुत्री सूर्या व अश्विनी कुमार के विवाह के समय आदर्श दम्पत्ति सिद्ध हों ऐसी कामना की गयी है।[1] कामनावर्षक इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह इस वधू को सौभाग्यशाली बनायें।[2]

स्त्री से ही वंश वृद्धि होती है इसलिए परिवार में पत्नी का महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि वह एक ही परिवार के अस्तित्व की रक्षा करने वाली है।[3]

भारतीय संस्कृतिकी प्राचीन परम्पराओं में ऋण से उऋण होना भी गृहस्थ का धर्म कहा गया है। इन तीन ऋणों में एक ऋण होता है पितृ ऋण। इस ऋण से व्यक्ति तभी मुक्ति पा सकता है, जब वह विवाह करके श्रेष्ठ सन्तति उत्पन्न कर स्वयं भी पुत्र रूप में अपने पूर्वजों का उद्धार करे क्योंकि जो 'पुं' नामक नरक से पिता की रक्षा करता है वह पुत्र कहलाता है।[4]

---

1. सं. जात्यत्यं सुययमस्तु देवाः।
   ऋक्.– 10/85/23
2. यथेयमिन्द्रमीढ्वा सुपुत्रा सुभगासति।
   वही– 10/85/23
3. दशस्यां पुत्रानां धेहि पतिमेकादश कृषि।
   ऋग.– 10/85/23
4. यच्च पुत्रः पुन्नामनरकमनेकशततारं तस्मात्त्राति पुत्रस्तत् पुत्रस्य पुत्रत्वम्।
   गो. ब्रा.– 1/1/2

आचार्य मनु के अनुसार ब्रह्मचारी अपनी शिक्षा समाप्त करके गुरु-दक्षिणा देकर व समावर्तन संस्कार के उपरान्त उपयुक्त कन्या से विवाह करे।[१]

मनुस्मृति में गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ आश्रम कहा गया है क्योंकि जिस प्रकार वायु के द्वारा ही सम्पूर्ण प्राणी प्राण धारण करते हैं, उसी प्रकार से गृहास्थाश्रम के द्वारा ही अन्य आश्रम जीवित रहते हैं। जैसे सभी नद-नदियाँ सागर में ही आश्रय पाते हैं वैसे ही अन्य आश्रम आश्रय के लिए गृहास्थाश्रम की ओर जाते हैं।[२]

पौराणिक परम्परा में ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति के पश्चात् आने वाले द्वितीय आश्रम को गृहास्थाश्रम कहा गया है। वहाँ पर यह उल्लेख मिलता है कि गृहास्थाश्रम में प्रवेश करने वाला मनुष्य कुल श्रेष्ठ कुलोत्पन्न, विनयशील, पतिव्रता स्त्री से विवाह करके अपना जीवन व्यतीत करे।[३]

---

1. गुरूणानुमतः स्नात्वा सम्वृतो यथाविधिः।
   उद्वहेत द्विजो भार्या सवर्णा लक्षणान्विताम्।।
   म. स्मृ.–3/4
2. यथा नदीनदः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
   तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितम्।।
   यथावायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
   तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वाश्रमाः।।
   म. स्मृ.– 6/90, 3/77
3. ब्रवै. (ब्र. ख.)– 24/9

गृहस्थ आश्रम का महत्त्व सर्वाधिक इसलिए भी है क्योंकि इस आश्रम में रहते हुए ही मनुष्य परस्पर विरोधी धर्म, अर्थ, काम का एकत्र सेवन करता है, अनेक प्रकार के सद्कर्मों द्वारा वह अपनी सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति कर सुखी और सम्पन्न रहता है।वह गृहस्थ अपने ऋणों से उऋण होकर अपने कर्तव्य का पालन कर यज्ञ, कीर्ति, अर्थ, पुण्य तथा सुख की प्राप्ति कर जीवन मुक्त हो जाता है।[१]

शुक्रनीति के प्रणेता आचार्य शुक्र के अनुसार सभी के द्वारा गृहास्थाश्रम का पालन किया जाता है, अतः यह आश्रम एक उत्कृष्ट आश्रम है।[२]

महाभारत में इस आश्रम के विषय में उल्लेखमिलता है कि जो वेदों का अध्ययन पूर्ण करके, समस्त वेदोक्त शुभ कर्मों का अनुष्ठान करने के पश्चात् अपनी विवाहिता पत्नी के गर्भ से सन्तान उत्पन्न कर उन आश्रम के न्यायोचित भोगों को भोगता और एकाग्रचित हो मुनिजनोचित धर्म से युक्त दुष्कर गार्हस्थ्य धर्म का पालन करता है, वह उत्तम है।[३]

---

1. ब्र. वै. (ब्र. ख.)– 23/8–11
2. शुक्र. नीं.– 4/4/2
3. अधीत्य वेदान कृतसर्वकृत्यः।
   संतानमुत्पाद्य सुखानि भुक्त्वा।।
   समाहितः प्रचरेद् दुश्चरः यो।
   गार्हस्थ्य धर्मे मुनिधर्मजुष्टम्।।
   महा.– 12/61/10

गृहस्थाश्रमी पुरुष इन्द्रियों का संयम करे, गुरुजनों एवं शास्त्रों की आज्ञा माने, देवताओं एवं पितरों की तृप्ति के लिए हव्य व कव्य समर्पित करने में कभी भूल न होने दे, ब्राह्मणों को निरन्तर अन्नदान करे, ईर्ष्या–द्वेष से दूर रहे। अन्य सब आश्रमों को भोजन देकर उनका पालन पोषण करता रहे और सदा यज्ञ यागादि में संलग्न रहे।[1]

गृहस्थ आश्रम में धर्म, अर्थ और काम तीनों की प्राप्ति होती है, इसलिए त्रिवर्ग साधन की इच्छा रखकर गृहस्थ को उत्तम कर्म के द्वारा धन संग्रह करना चाहिए। अर्थात् वह स्वाध्याय से प्राप्त हुई विशिष्ट योग्यता से ब्रह्मर्षियों द्वारा निश्चित किये हुए मार्ग से अथवा पर्वत से उपलब्ध हुए उसके सारभूत मणि, रत्न, दिव्यौषधी एवं स्वर्ण आदि से धन का संचय करे, अथवा हवन, श्राद्ध, नियम, वेदाभ्यास तथ देवताओं की प्रसन्नता से प्राप्त धन के द्वारा गृहस्थ पुरुष अपनी गृहस्थी का निर्वाह करे क्योंकि गार्हस्थ्य आश्रम को सब आश्रमों का मूल कहते हैं। गुरुकुल में रहने वाले ब्रह्मचारी वनों में व्रत, नियम, धर्म–पालन करने वाले, वानप्रस्थी संन्यासी भी इस गृहस्थाश्रम से भिक्षा भेंट, उपहार दान प्राप्त कर अपने–अपने धर्म के पालन में प्रवृत्त होते हैं।[2]

---

1. दान्तो विधेयो हव्यकव्येऽप्रमत्तो, हव्यस्य दाता सततं द्विजेभ्यः।
   अमत्सरीसर्वलिङ्गप्रदाता, वैताननित्यश्च गृहाश्रमी स्यात्।।
   महा0–12/61/10 ।

2. गृहस्थाश्रमो धर्मार्थकामावाप्ति त्रिवर्गसाधनमपेक्ष्या, गर्हितेन् कर्मणा धनान्यादान स्वाध्यायोपलब्ध प्रकर्षेण वा ब्रह्मर्षिनिमित्तेन वा अद्रिसारगतेन् वा। हव्य–कव्य नियमाभ्यासदैवत् प्रसादोपलब्धेन वा धनेन् गृहस्थो गार्हस्थ्यं वर्तयेत्। तद्धि सर्वाश्रमाणां मूलमुदाहरन्ति गुरुकुलनिवसानिः परिव्राजका ये चान्ये संकल्पित व्रतनियज्ञधर्मानुष्ठायिनस्तेषामप्यत् एव भिक्षाबलि संविभागा प्रवर्तन्ते।।
   महा0 – 12/191/10 ।

वानप्रस्थ

यह आश्रम व्यक्ति की आयु का तीसरा भाग है। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार वानप्रस्थ का तात्पर्य है वह जो प्रकर्ष-पूवर्क नियमों का पालन करते हुए वन में निवास करे। जब गृहस्थ के शरीर पर झुर्रियां पड़ जायें, केश श्वेत हो जाएँ, पुत्रों के भी पुत्र हो जायें तब उस गृहस्थ को जितेन्द्रिय होकर पत्नी को साथ लेकर अथवा पुत्रों के संरक्षण में छोड़कर वन को चले जाना चाहिए। वन में अत्यधिक कठोर नियमों का पालन करते हुए शीत, ग्रीष्म, आतप इत्यादि को सहन करे।[1]

मनु स्मृति में उल्लेख मिलता है कि वानप्रस्थी को वन में कन्द मूल इत्यादि खाकर विभिन्न प्रकार से कठोर तपस्या करनी चाहिए। इन नियमों के अतिरिक्त अग्निहोत्र करना, दिन में तीन बार स्नान करना, पवित्रता, संयम, हितकामना, उदारता, ग्रीष्म में सूर्य और अग्नि की उष्णता में तपे तथा हेमन्त ऋतु में जल में तप करे। इत्यादि गुण वानप्रस्थी में होने चाहिए।[2]

---

1. वने चकर्षेण नियमेन् च तिष्ठतीति चरतीति वानप्रस्थ। या. स्मृ.– 3/45 परमिता
2. गृहस्थस्तु यदा पश्येत् बलीपतितमात्मना। अपत्यस्यैव चापत्युतदारण्यं समाश्रेयत्।।
   पुत्रेषु भार्या निक्षिप्य वनं गच्छेत सहैव वा। अग्निहोत्रं समादाय गृह्मं चाग्नि परिच्छदम्।।
   स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात् दान्तो मैत्रः समाहितः।
   दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः।।
   ग्रीष्मे पंचपास्तुस्याद् वर्षास्वभ्रावकाशिकः।
   आद्रवासस्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयन्तपः।। म. स्मृ– पृ. 222, 226

पूर्ववर्ती युग के अनेक सन्दर्भों पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि आरम्भ में इस आश्रम के लिए वैखानस शब्द का प्रयोग किया जाता है।[1]

उपनिषद् परम्परा के अन्तर्गत वन में निवास करने वाले तपस्वियों के लिए तपस्वी शब्द प्रयुक्त किया गया है।[2]

महाभारत में वानप्रस्थाश्रम के विषय में कथन है कि गृहस्थ पुरुष को जब अपने सिर के बाल सफेद दिखाई दें, शरीर पर झुर्रियाँ पड़ जायेंऔर पुत्रों को पुत्र की प्राप्ति हो जाय तो अपनी आयु का तीसरा भाग व्यतीत करने के लिए वन में जाय, और वानप्रस्थाश्रम में रहे वह वानप्रस्थ आश्रम में भी उन्हीं अग्नियों का सेवन करे जिनकी गृहस्थाश्रम में उपासना करता था, साथ ही देवराधना भी करता रहे।[3]

---

1. ध. ई.– (1) पृ. 42
3. तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यो चरन्तः।
   सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरूषो हत्यब्यात्मा।।
   मु. 3.– 1/2/11
4. गृहस्थस्तु यदा पयेद् वलीपलितमात्मनः।
   अपत्यस्यैव चापत्यं वनमेव तदाश्रयेत्।।
   तृतीयमायुषो भागं वानप्रस्थाश्रम वसेत्।
   तानेवाग्नीन् परिचरेद् यजमानो दिवौकसः।।
   महा.–12/244/4, 5

कालिदास ने अपने प्रसिद्ध नाटक में वैखानस शब्द का प्रयोग ब्रह्मचारी के लिए किया है, यद्यपि ये वन में रहते थे, वन में रहने के कारण ही उन्होंने वानप्रस्थी के लिए इस वानप्रस्थ आश्रम की कल्पना की।[1] महाभारत में कथन है कि वानप्रस्थी काश, कुश, मृगचर्म और वृक्षों की छाल से बने वस्त्रों से अपने शरीर को ढ़कते हैं। नियत समय पर स्नान करके निश्चित काल का उल्लंघन न करते हुए बलिवैश्व तथा अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनुष्ठान करते हैं। सबेरे हवन-पूजन के लिए समिधा कुशा और फूल आदि का संग्रह करके आश्रम को झाड़ कर उन्हें कुछ विश्राम मिलता है।

सर्दी, गर्मी, वर्षा और हवा का वेग सहते-सहते उनके शरीर के चमड़े फट जाते हैं। नाना प्रकार के नियमों का पालन और सतकर्मों का अनुष्ठान करते रहने से उनके रक्त और मांस सूख जाते हैं और शरीर की जगह चाम से ढकीं हुई हड्डियों का ढ़ाचा मात्र रह जाता फिर भी धैर्य रखकर साहस पूर्वक शरीर का भार ढ़ोते रहते हैं।[2]

---

1. म. पु. अनु.– पृ. 305, अ. शा. पृ. 33
2. काश–कुश चर्म वल्कल संवृताङ्गाः केशश्मश्रुनखरोमधारिणो।
   नियतकालोपस्पर्शना अस्कन्दित काल बलिहोमानुष्ठायिनः।।
   समित्कुशकुसुमापहा रसम्मार्जनलब्धविश्रामाः शीतोष्णवर्षपवन
   विस्टम्भाविशोणिततत्वगस्थिभूता धृतिपराः सत्वयोगाच्छशरीराण्यद्वहन्ते।।
   महा.– 12/192/1

वानप्रस्थी को सदा वन में रहना, वन में ही विचरना, वन में ही ठहरना, वन के ही मार्ग पर चलना, और गुरु की भांति वन की शरण लेकर वन में ही जीवन निर्वाह करना चाहिए। प्रतिदिन अग्निहोत्र और पंचमहायज्ञों का सेवन वानप्रस्थों का धर्म है। उन्हें विभागपूर्वक वेदोक्त पंचयज्ञों का निरन्तर पालन करना चाहिए।[1]

अष्टमी तिथि को होने वाले श्राद्ध रूप यज्ञ में तत्पर रहना चातुर्मास्य व्रत का सेवन करना, पौर्णमास और दर्शनादि यज्ञ तथा नित्य यज्ञ का अनुष्ठान करना वानप्रस्थ मुनि का धर्म है। वानप्रस्थ मुनि स्त्री समागम तथा सब प्रकार के संकर तथा सम्पूर्ण पापों से दूर रहकर वन में विचरते रहते हैं।[2]

---

1. तेषां होमक्रिया धर्मः पंचयज्ञनिवेषणम्।
   भागं च पंचयज्ञस्य वेदोक्तस्यानुपालनम्।।
   वननित्यैर्वनचरैर्वनस्थैर्वनगोचरैः।
   वनं गुरूमिवासाद्य वसतव्यं वनजीविभिः।।
   महा.–13/142/13,14
2. अष्टमीयज्ञपरता चातुर्मास्यनिषेवणम्।
   पौर्णमासादयो यज्ञा निह्मयज्ञस्तथैव च।।
   विमुक्ता दारंसयोगैर्विमुक्ताः सर्वसंकरै।
   विमुक्ताः सर्वपापैश्च चरन्ति मुनयो वने।।
   महा.– 13/142/15, 16

सन्यासाश्रम

यह आश्रम जीवन का अन्तिम भाग है, वानप्रस्थ की सहज स्थिति ही संन्यासाश्रम है। वैदिक परम्परा में संभवतः मुनि शब्द का प्रयोग इसी आश्रम का द्योतक है जिसमें उल्लेख किया गया है कि वे मनीषी पीत वर्ण. के वस्त्रों को धारण करते हुए तप में संलग्न रहते हैं और देवत्व धारण करने की स्थिति में वे वायु की गति का अनुगमन करते हैं।[१] उपनिषदें चारों आश्रम का उल्लेख करते हुए संन्यासाश्रम की ओर संकेत करती हैं कि संन्यास धारण करने वाले इन्द्रिय संयम व तप के द्वारा अमृत पद प्राप्त करते हैं।[२]

वृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णित है कि संन्यासी लोकेषणा, पुत्रेषणा व वित्तेषणा सभी को त्यागकर गृहहीन व भिक्षाचरण कर आत्मज्ञान का सम्पादन करते हैं।[३]

आचार्य शंकर व अन्य शास्त्रकारों ने श्वेताश्वतरोपनिषद् के 'अत्याश्रमिभ्यः' की व्याख्या में चतुर्थाश्रम का अर्थ ही ग्रहण किया है, जिससे ये अनुमान लगाया जा सकता है कि संन्यास आश्रम एक प्राचीन परम्परा है।[४]

---

1. ऋग0– 10/136/2,3 ।
2. वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्था संन्यासंयोगाख्य बुधसत्वाः।
   ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिष्मुष्यन्ति सर्वे।।
   मु.उ.–3/2/6 ।
3. वही.– पृ0 327
4. श्वे.उ.शा.भा.– पृ0 216 ।

महाभारत महाकाव्य में संन्याश्रम के विषय में संकेत है कि वानप्रस्थी केश, लोम और नख कटाकर कर्मों से पवित्र होकर वानप्रस्थ आश्रम से पुण्यमय संन्यास आश्रम में प्रवेश करे। जो ब्राह्मण सम्पूर्ण प्राणियों को अभय दान देकर संन्यासी हो जाता है वह मरने के पश्चात् तेजोमय लोक को जाता है और अन्त में मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

संन्यासी के लिए उचित है कि सदा पवित्र जल से काम ले। प्रतिदिन तुरन्त निकाले हुए जल से स्नान करे। अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य सरलता, क्रोध का अभाव, दोष दृष्टि त्याग, इन्द्रिय संयम और चुगली न करना इन आठ व्रतों का सदा सावधानी के साथ पालन करे, इन्द्रियों को वश में रखे।

---

1. केशलोभंनखान् वाप्य वानप्रस्थो मुनिस्ततः।
   आश्रमादाश्रमं पुण्यं पूतो गच्छति कर्मभिः।।
   अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा यः प्रवृजेद् द्विजः।
   लोकोस्तेजोमयास्तस्य प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते।।
   महा0– 12/244/27, 28

2. पूताभिरद्भिर्नित्यं वै कार्ये कुर्वीत मोक्षवित्।
   उपस्पृशे दुद्धताभिरभिरद्भिश्च पुरुषः सदा।।
   अहिंसा ब्रह्मचर्यं च सत्यमार्जवमेव च।
   अक्रोधश्र्चानसूया च दमो नित्यमपैशुनम्।
   अष्टस्वतेषुयुक्तः स्याद् व्रतेषु नियतेन्द्रियः।। महा0–14/46/ 28,29,30 ।

संन्यास आश्रम में प्रवेश करने वाले पुरुष अग्निहोत्र, धन, स्त्री और परिवार तथा घर की सारी सामग्री का परित्याग करके भोगों और संगों के प्रति अपनी आसक्ति के बन्धनों को तोड़कर सदा के लिए घर से बाहर निकल जाते हैं। ढ़ेले, पत्थर और सुवर्ण को समान समझते हैं। धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी प्रवृत्तियों में उनकी बुद्धि आसक्त नहीं होती है।

शत्रु और मित्र उदासीन सबके प्रति, वे समान दृष्टि रखते हैं। स्थावर, पिण्डज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज प्राणियों के प्रति मन वाणी और क्रियाओं द्वारा कभी द्रोह नहीं करते हैं। कुटी या मठ बनाकर नहीं रहते हैं।

उन्हें चाहिए वे कि चारों ओर विचरते रहें तथा रात्रि में ठहरने के लिए पर्वत की गुफा, नदी का किनारा, वृक्ष की जड़, देव मन्दिर नगर में चले जाँय।[१]

---

1. परिव्राजकानां पुनराचारः तद् यथा विमुच्यानि धन कलत्र परिवर्हणं संगेष्वात्मनः स्नेहजशानवधूय परिव्रजन्ति। समलोष्टाश्म काञ्चनास्तिवर्ग प्रवृत्तेत्वसक्तबुद्धयोऽरि-मित्रोदासीनानां तुल्य प्रदर्शनाः स्थावरजरायुजाण्डन स्वेदजोद्भिज्जानां भूतानां वाङ्मनः कर्म निरनिभिद्रोहिणोऽनिकेताः पर्वतपुलिनवृक्षमूलं। देवतायतना न्यनुचरन्तो वासार्थमुपेयुर्नगरं।महा0– 12/192/2 ।

संस्कार

भारतीय संस्कृति के अजस्त्र प्रवाह में जिन अवधारणाओं ने शनैः-शनैः एक निश्चित स्वरूप ग्रहण करके भारत के मानव जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया और जो हिन्दू धर्म का एक अनिवार्य अंग बन गई उनमें से एक अवधारणा 'संस्कार' की थी। संस्कार शब्द सम् उपसर्ग पूवर्क 'कृ' धातु से निष्पन्न होता है। जिसका अभिप्राय होता है मनुष्य के शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक परिष्कार हेतु किये जाने वाले शुद्धि के कार्य जो मानव को इहलोक व परलोक में भी पाप से विमुक्त कराते हैं। आचार्य शंकर के अनुसार संस्कार वह है जिसके हो जाने पर मनुष्य कार्य के योग्य हो जाता है।[1]

अतः प्राचीनकाल से ही भारतीय ऋषियों ने संस्कारों द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व को परिष्कृत करने तथा एक विशिष्ट लक्ष्य की ओर प्रेरित करने का प्रयत्न किया था। संस्कारों के अन्तर्गत प्रारम्भिक विचार धार्मिक कृत्य व उनके सहवर्ती कर्त्तव्य तथा धार्मिक अनुष्ठान सम्मिलित हैं, जिनका उद्देश्य न केवल मनुष्य के शरीर को शुद्ध करना है अपितु उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार और शुद्धता है जिससे मनुष्य के जन्मगत दोष नष्ट हो जाते हैं। अतः मनुष्य के जीवन में क्रम बद्ध व विधिविधान पूर्ण ढ़ंग से जो संस्कार किए जाते हैं, उससे उसमें अद्भुत व विलक्षण गुणों का विकास होता है।[2]

इसी विषय में एक अन्य आचार्य का मत है कि संस्कार मानव में तीन प्रकार के कार्यों का आधान करते हैं, सर्वप्रथम ये दोषपरिमार्जन करते हैं। अर्थात् यदि किसी व्यक्ति या पदार्थ में कोई दोष आ जाये तो उसे दूर करने के लिए दोष परिमार्जन संस्कार किया जाता है। द्वितीय व्यक्ति या वस्तु में किसी उपयोगिता को उत्पन्न कर देने के लिए जो संस्कार किये होते हैं, वे 'अतिशयाधान' संस्कार कहलाते हैं। तृतीय किसी त्रुटि की पूर्णता हेतु जो संस्कार किए जाते हैं, वे 'हीनांगपूर्ति' कहलाते हैं।

---

1. जै. सू. – 3/1/3
2. आत्मशरीरान्यतरनिष्ठो विहितक्रियाजन्योऽतिशय विशेषाःसंस्काराः। वी0प्र.–पृ0 132
3. वै.भा. सं. – पृ 209

भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से ही संस्कारों की व्यवस्था रही है। संस्कारों के विषय में भारतीय आचार्यों व शास्त्रकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं। जैसे के आश्वलायन गृहसूत्र में एक स्थान पर ग्यारह संस्कारों का कथन है किन्तु अन्यत्र इनकी संख्या तेरह कही गयी है। जिनमें विवाह, गर्भाधान संस्कार, पुंसवन, सीमान्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकर्म, अन्नप्राशन, उपनयन, समावर्तन तथा अन्त्येष्टि आदि हैं। इसमें अन्य संस्कार जैसे केशान्त व निष्क्रमण, गोदान व दन्तोदामन नामक संस्कारों का उल्लेख भी एक स्थान पर मिलता है।[१] आचार्य गौतम ने संस्कारों की संख्या चालीस कही है।[२]

महर्षि व्यास ने पन्द्रह प्रमुख संस्कारों का उल्लेख किया है जिसमें गर्भाधान, पुंसवन, सीमान्तोन्नयन, जातकर्म, नामक्रिया, निष्क्रमण, समावर्तन पाणिग्रहण प्रेताग्नि संग्रह प्रमुख हैं।[३]

मनुस्मृतिकार ने गर्भाधान, पुंसवन, सीमान्तोन्नयन, जातकर्म नाम-ध्ये, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, चयनक्रिया, कर्णभेद, उपनयन, केशान्त, व्रतादेश, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह तथा अन्त्येष्टि कर्म नामक संस्कारों का सम्पूर्ण विधि विधान के साथ वर्णन किया है।[४]
महर्षि याज्ञवल्क्य भी मनु द्वारा स्वीकृत संस्कारों को स्वीकार करते हैं।[५]

---

1. हि. सं. पृ. 21–22
   वही. पृ. 22
2. षो. वि. पृ. 1–3
3. वही पृ. 1–3
4. म. स्मृ. पृ. 26–30
5. याज्ञ. स्मृ. 1–2

मनुष्य के आचरण को शुद्ध व पवित्र बनाने में संस्कारों का अत्याधिक महत्व रहा है। इन सभी संस्कारों को मानव जीवन के प्रत्येक स्तर को ध्यान में रखते हुए पाँच विभागों में भी विभाजित किया गया है। जिसमें सर्वप्रथम 'जन्म से पूर्व संस्कार'- इसके अन्तर्गत गर्भाधान, पुंसवन संस्कार, सीमन्तोन्नयन संस्कार आते हैं इन्हें प्रागू जन्म संस्कार कहा जाता है।

द्वितीय 'शिशु के संस्कार' जिसमें जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, तथा कर्णबेध संस्कार को सम्मिलित किया जाता है। तृतीय 'शिक्षा सम्बन्धी संस्कार'- उपनयन संस्कार, वेदारम्भ तथा समावर्तन संस्कार शिक्षा कालीन संस्कार है। चतुर्थ विवाह इसको आश्रमीय व्यवस्था जैसे वानप्रस्थ, संन्यास आश्रम से सम्बद्ध होने के कारण आश्रमकालीन संस्कार कहते हैं। पंचम- अन्त्येष्टि - ये संस्कार कहा जाता है, जो मुत्यु के उपरान्त होता है इसे मरणोत्तर संस्कार कहा जाता है।

अतः इन सभी का उद्देश्य मनुष्य को सुसंस्कारित कर सन्मार्ग पर प्रेरित करना था।

महाभारत महाकाव्य में मुख्य जिन संस्कारों का संकेत है, उनका निरूपण निम्नवत् है।

गर्भाधान संस्कार

इस संस्कार के द्वारा माता के गर्भ में वीज रूप से शिशु प्रतिष्ठित किया जाता है। इसमें पति एवं पत्नी उपवास तथा विभिन्न यज्ञादि से मन को पवित्र करके परस्पर अनुरक्त मन होकर देवताओं के आवाहन पूर्वक सन्तानोत्पत्ति में प्रवृत्त होते थे।

अतः ये सन्तानोत्पत्ति का मूल हेतुक संस्कार है इसलिए प्राचीन काल से ही इसका संकेत मिलता रहा है।

वैदिक युग में इस संस्कार के संकेत मिलते हैं। जैसे कि एक स्थान पर उल्लेख है कि भगवान विष्णु नारी को गर्भाधान की क्षमता से युक्त करें। उसके विभिन्न अवयवों को संरक्षण प्रदान कर गर्भधारण में सहयोग करें।[1] उपनिषद् परम्परा के अन्तर्गत तो गर्भाधान संस्कार का विधिवत् वर्णन है। वहाँ उल्लेख है कि जो अपनी सन्तान को प्रकाण्ड पंण्डित, सत्यवादी, सम्पूर्ण वेदों में पारंगत और सौ वर्ष की अवस्था तक जीवित रहने वाला चाहता हो वह विधिपूर्वक गर्भाधान संस्कार सम्पादित करे तथा संयोग काल में "विष्णुयोनिरकल्पयतु" इस मन्त्र का पाठ करते हुए स्त्री में गर्भाधान करे।[2]

---

1. ध. इ. पृ. 181
2. अथास्या उरू विहाययति विजहीथां द्यावापृथिवी इति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन् मुखं संधाय त्रिरेनामनुलोभामनुमाष्ठिं विष्णुयोनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आसिंचतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते। गर्भ धेहि सिनीवालि गर्भ धेहि पृथुष्टके।

ई. द्वा. उ. पृ. 423

महाभारत महाकाव्य ने इसी प्राचीन परम्परा का प्रायः पुनराख्यान किया है। इस महाकाव्य में ऐसा कुछ नहीं कहा गया है जो वेदादि ग्रन्थों में न हो या कि इसके विपरीत हो।

इसलिए ये संस्कार महाभारत महाकाव्य में किसी न किसी रूप में मिलता है।

एक स्थान पर उल्लेख है कि विचित्रवीर्य की मृत्यु के पश्चात् देवी सत्यवती ने राज्य की सुरक्षा के लिए भीष्म पितामह से आज्ञा लेकर अपने पुत्र व्यास जी के द्वारा अम्बिका तथा अम्बालिका के गर्भाधान संस्कार कराये।[१]

महाभारत में अन्यत्र गर्भाधान का नामोल्लेख मात्र हुआ है जब देवी कुन्ती ने युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा देवी माद्री ने नकुल और सहदेव पुत्रों के गर्भ धारण किये थे तब पाण्डु ने गर्भाधान इत्यादि संस्कार सम्पन्न किये। ये सभी काश्यप ऋषि ने किये थे।[२]

---

1. कौसल्ये देवरस्तेऽस्तिं सोऽद्य त्वानुप्रवेक्ष्यति।
   अप्रमत्ता प्रतीक्षैनं निशीथे ह्यागमिष्यति।।
   महा0– 1/105/2 पृष्ठ–325।

2. पाण्डोः पुत्रानमन्यन्त तापसाः स्वानिवात्मजान्।
   ततस्तु वृष्णयः सर्वे वसुदेव पुरोगमाः।।
   महा0– 1/123/31 पृ0–369 ।

पुंसवन संस्कार

स्त्री के गर्भ धारण करने के पश्चात् पुंसवन सम्पन्न किया जाता है। होने वाली सन्तति पुत्र ही हो इसलिए गर्भ स्थिति के द्वितीय या तृतीय मास में यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कार में देवों की स्तुति और उनसे पुत्र प्राप्ति सम्बन्धी वर की याचना करने का भी विधान है। वैदिक परम्परा में भी इस संस्कार का संकेत मिलता है। जैसे कि पीपल के वृक्ष पर यदि शमी का पेड़ उत्पन्न हो तथा याज्ञिक विधि–विधान से स्त्री उसका सेवन करे तो निश्चित रूप से ही पुत्र को प्राप्त करती है।[१]

पुत्र की प्राप्ति हेतु अन्यत्र भी उल्लेख मिलता है कि मार्गशीष के शुक्ल पक्ष में भगवान् लक्ष्मी तथा नारायण का पूजन किया जाता है। गर्भधारण करने वाली स्त्री अपने पति के साथ एक वर्ष तक इस पूजन को करतीं हैं तथा व्रत का पालन करते हुए यज्ञ में आहुतियाँ देती हैं। व्रत के समापन होने पर स्त्री स्वयं व्रत रखकर सभी ब्राह्मण को भोजन कराने के उपरान्त अवशेष को प्रसाद के रूप में ग्रहण करती है तो उसे पुत्र की प्राप्ति निश्चित रूप से होती है।[२]

---

1. शमीमश्वरथ आरूढ़स्तत्र पुसवनं कृतम्।

2. तद्वै पुत्रस्य वेदनं ततस्त्रीस्वाभरामसि।।
   अथर्व.– 6/11/1 ।

पौराणिक परम्परा के अन्तर्गत भी इस व्रत का संकेत मिलता है जब महर्षि कश्यप इस व्रत का विधान करते हुए दिति को उपदेश देते हैं कि व्रतकाल में किसी भी जीव की हिंसा नहीं करना चाहिए, असत्य भाषण नहीं करना चाहिए, मख तथा केश इत्यादि को छिन्न नहीं करना चाहिए, अस्पृश्य का स्पर्श नहीं करना चाहिए।

क्रोधित हो कर वाणी का व्यवहार नहीं करना चाहिए, दुष्ट के साथ सम्भाषण नहीं करना चाहिए। मांसाहार से दूर रहना चाहिए, व्रत के समय सदैव शुद्ध रहते हुए स्वच्छ वस्त्र धारण करें।

महर्षि का कथन था कि व्रत काल गौ, विप्र तथा भगवान् विष्णु की पूजा करते हुए पति की भी भली प्रकार से पूजा करनी चाहिए। इस व्रत को एक वर्ष तक जो स्त्री करती है वह अत्यधिक वीर, पराक्रमी, सद्गुण सम्पन्न पुत्र को प्राप्त करती है।[1]

---

1. न हिंस्याद भूतजातानि न शयेन्नानृतं वदेत्।
न छिन्द्यान्नरवरोमणि न स्प्रशेद् अमंगलम्।।
नाप्सु स्नायान्न कुप्यते न सम्भाषेत दुर्जनैः।
न वसीता धौतवासः स्रजं च विधृतां क्वचित्।।
नोच्छिष्टं चण्डिकान्नं च न सा मिषं वृषलाहृतम्।
भुंजीतोदक्या दृष्टं पिवेदंजलिना पयः।।
संवत्सरं पुंसवनं व्रतमेतदविलुप्तम्।
धारयिष्यसि चेत् तुभ्यं शक्रहा भविता सुतः।।
भा.म.पु., पृ0–345 ।

महाभारत महाकाव्य में वैसे तो कई प्रमुख संस्कारों का उल्लेख किया गया है और एक विधान का कथन हुआ है किन्तु पुंसवन संस्कार का विधान स्पष्ट रूप से नहीं दिया गया है।

महाभारत में एक स्थान पर महाराज पाण्डु जब सन्तानोत्पन्न करने में समर्थ न होने पर अत्यन्त दुखी होते हैं तब देवी कुन्ती उन्हीं की आज्ञा प्राप्त कर दुर्वासा ऋषि द्वारा दिए गये मन्त्रोच्चारण से व्रत एवं पूजा करती हैं। सर्वप्रथम यमराज (धर्म का), तत्पश्चात् वायु देव का एवं अन्त में इन्द्रदेव का आह्वान देवी कुन्ती करती हैं। इसके पूर्व वे व्रत व पूजापाठ भी करती हैं, जिसके फलस्वरूप वे क्रमशः युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन को प्राप्त करतीं हैं।[१]

इसी प्रकार देवी सत्यवती के कहने पर व्यास जी पुत्र प्राप्ति के लिए अम्बिका व अम्बालिका को एक वर्ष व्रत करने का आदेश देते हैं। ये व्रत करके ही वे ध्रतराष्ट्र व पाण्डु जैसे पुत्र को प्राप्त करती हैं।[२]

---

1. महा0– 1/122/2 पृ0 361–366

2. महा0– 1/104/42 पृ0 324 ।

जातकर्म व नामकरण संस्कार

यह संस्कार अत्यन्त प्राचीन है, वेदों में एक स्थान पर बालक के सुरक्षित तथा सरल जन्म के लिए अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त ही प्राप्त होता है जिसमें विविध प्रार्थनाऐं तथा अभिचार विधियाँ हैं।१

उपनिषद् परम्परा में इस संस्कार का स्वरूप कुछ इस प्रकार था। पुत्र जन्म पर अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए बारह विभिन्न पात्रों में पकी हुई रोटी (पुरोडाश) वैश्वानर को अर्पित की जाती थीं, जमे हुए दूध और घी की हवि से हवन किया जाता था। बालक का पिता दही, मधु और घी को स्वर्ण से मिश्रित करके बालक को चटाता है तथा 'भूः,भुवःस्वः' को बालक में स्थापित करने की भावना करता था।२

प्राचीन काल से जातकर्म संस्कार के साथ ही शिशु के नामकरण संस्कार का उल्लेख प्रायः मिलता है। शुक्ल यजुर्वेद में एक पिता का कथन इस प्रकार है जिसमें वह कहता है कि हे वत्स! तुम कौन हो, तुम्हारा नाम क्या है, हम तुम्हारे नाम को जानते हैं और तुम्हें सोम से तृप्त करते हैं? प्रभु हमें सभी प्रकार की पोषण की शक्तियाँ प्राप्त हों तथा हम वीरता के गुण से युक्त हों।

---

1. अथर्व. – 1/11
2. अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय बाग् वागिति त्रिरथ दधि मधु घृतंसं नीयानन्तर्हितेन जातिरूपेण प्रशयति। भूस्ते दधामि भुवस्ते दधामि स्वस्ते दधामि भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामीति। तै. सं.– 2/2/5/3–4 ।

3. शु. यजु.– 7/29
कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि।
यस्यते नामा मन्महिं यं त्वा सोमेनातीं तृषाम्।।

महाभारत महाकाव्य में जातकर्म तथा नामकरण संस्कार का उल्लेख मात्र हुआ है। इन संस्कारों के विधान का विस्तार महाभारत में नहीं है।

एक स्थान पर वर्णित है कि सप्तऋषियों को जब ये ज्ञात हुआ कि उनकी छह पत्नियों के संयोग से अग्नि देव के एक महान् तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ है, तो उन्होंने अरून्धती को छोड़कर समस्त छह पत्नियों को त्याग दिया।

तब महर्षि विश्वामित्र तेजस्वी बालक को कार्तिकेय कुमार की शरण में ले गये। उन महामुनि ने सारे मांगलिक कृत्य सम्पन्न करके जातकर्मादि संस्कारों का अनुष्ठान किया।[१]

उसी प्रकार महाभारत में नामकरण संस्कार का भी प्रायः नामोल्लेख मात्र हुआ है। महाभारत में एक स्थान पर उल्लेख मिलता है कि शतश्रृङ्ग निवासी ऋषियों ने पाण्डु के पांचों पुत्रों के नामकरण संस्कार किये। उन्हें आशीर्वाद देते हुए उनकी भक्ति और कर्म के अनुसार उनके नाम रखे।[२]

---

1. मंगलानि च सर्वाणि कौमाराणि त्रयोदश।
   जातकर्मादिकास्तस्य क्रियाश्चक्रे महामुनिः।।
   महा0– 3/226/13 पृ0 1596 ।

2. महा.– 1/123/19 पृ0 367
   महा0– 1/220/87 पृ0 631 ।

मनु स्मृति में नामकरण संस्कार के विषय में ये उल्लेख मिलता है कि बालक के जन्म के दसवें दिन से लेकर बारहवें दिन के पश्चात् शुभतिथि पवित्र मुहूर्त तथा नक्षत्र इत्यादि देखकर बालक का नामकरण संस्कार करना चाहिए।

मनु के अनुसार ब्राह्मण का नाम मांगल्यपूर्ण, क्षत्रिय का नाम बलयुक्त, वैश्य का नाम धनवाचक व शूद्र का नाम जुगुप्सित होना चाहिए।[१]

बृहदारण्यकोपनिषद् में नामकरण संस्कार के महत्त्व को संक्षिप्त रूप में वर्णित किया है कि मरने के बाद मनुष्य को क्या नहीं छोड़ता? नाम। नाम से ही वह अनन्त लोकों को जीतता है।[२]

नाम के बिना जीवन में कोई कार्य नहीं हो सकता, इसलिए नामकरण संस्कार अत्याधिक महत्वपूर्ण है।

---

1. नामधेयं दशभ्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत्।
   पुण्ये तिथौ मुहूर्त वा नक्षत्रे वा गुणान्विते।।

   म0स्मृ0पृ0–31

2. बृहदा0उप0– 3/2/12 ।

वेदारम्भ संस्कार

यह संस्कार ऐतिहासिक दृष्टि से पर्याप्त अर्वाचीन है। इस संस्कार का आरम्भ बालक की आयु के लगभग तीसरे वर्ष से लेकर आठवें वर्ष तक होता था। इस संस्कार के उपरान्त बालक की शिक्षा प्रारम्भ हो जाती थी। ये संस्कार भारतीय परम्परा में प्राचीन संस्कार के रूप में प्रतिष्ठति रहा है। उस समय वेदों का पठन पाठन मौखिक परम्परानुसार होता था। ऋग्वेद में भी इसी व्यवस्था का संकेत मिलता है, जिसमें वर्णित है कि शिष्य गुरु के शब्दों का उसी प्रकार अनुसरण करता है, जैसे एक मेंढ़क दूसरे मेंढ़क के शब्दों को दुहराता है।[१]

उसी प्रकार अन्यत्र भी ये उल्लेख मिलता है कि ब्रह्मचारी तप व साधना में संलग्न होता हुआ वेदों में पारंगत होता है, वह तपोनिष्ठ विद्वान होकर पृथ्वी मण्डल पर आभायुक्त हो जाता है।[२]

मनुस्मृति के अनुसार वेदारम्भ संस्कार का आरम्भ बालक के यज्ञोपवीत संस्कार से माना जाता है, जिसमें यह विधान है कि ब्रह्मतेज से युक्त ब्राह्मण का पाँचवें वर्ष में बल की इच्छा वाले क्षत्रिय का आठवें वर्ष में तथा वैश्य बालक को बारहवें वर्ष में उपनयन संस्कार किया जाना चाहिए।[३]

इस संस्कार के विषय में ये संकेत मिलते हैं कि ब्रह्मचारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, तथा वैश्य वर्ण के लिए गायत्री मन्त्र का ज्ञान दिया जाना अत्यन्त उपयोगी माना जाता था। क्योंकि ये बुद्धि की प्रेरणा स्त्रोत मंत्र हैं।[४]

---

1. ऋग्– 7/130/5
2. तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य, पृष्ठो तपो तिष्ठत्तप्यमानः समुद्रो। सस्नातो बभुः पिंगलः, पृथिव्यां बहुरोचते।। अर्थव.– 11/7/26
3. ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे। यज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोडष्टमे। आषोडशाद ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते। आ द्वाविंशात्क्षत्रबन्धोरा चतुर्विंशते विशः।।
   म. स्मृ. पृ.– 33
4. म0 स्मृ0 – 2/170

महाभारत में इस कर्मकाण्ड के सन्दर्भ में उल्लेख मिलता है। इस संस्कार से पूर्व बालक का चूड़ाकरण व उपनयन संस्कार किया जाता था। महर्षि धौम्य ने पाण्डु पुत्र प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक, श्रुतसेन का क्रमशः चूड़ाकरण, उपनयन आदि संस्कार सम्पन्न किये। इसके पश्चात् उनका वेदारम्भ संस्कार किया।

उन बालकों ने पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन किया।[१]

एक स्थान पर वेदारम्भ संस्कार इस रूप में आया है जिसमें कहा गया है कि पाण्डु ने अपने पुत्रों के सभी प्रकार के संस्कार किये। पुरोहित कश्यप जी ने उनके समस्त संस्कार किये। इसके पश्चात् पाण्डवों ने वेदाध्ययन किया तथा महर्षि शुक से धनुर्वेद की विद्या ग्रहण की।[२]

---

1. कृत्वा च वेदाध्ययनं ततः सुचरिव्रताः।
   जगृहुः सर्वमिष्वस्त्रमर्जुनाद दिव्यमानुषम्। महा.– 1/220/88 पृ. 631

2. चैलोपनयना दूर्ध्वभृषभाक्षा यशस्विनः।
   वैदिकाध्ययने सर्वे समपद्यन्त पारगाः।। महा.– 1/123/32 पृ. 369

समावर्तन संस्कार

वेदाध्ययन की समाप्ति पर समावर्तन संस्कार किया जाता है तथा यह ब्रह्मचारी जीवन की समाप्ति का बोधक संस्कार है। इसके पश्चात् ही ब्रह्मचारी विवाहोपरान्त गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है।

एक उपनिषद् में इस संस्कार का कथन इस प्रकार है- कि एक गुरु अपने अन्तेवासी शिष्य को अन्तिम उपदेश देता है कि सदैव सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो स्वाध्याय से प्रमाद न करो, आचार्य के लिए अभीष्ट धन दो, सन्तान परम्परा का छेदन मत करो, सत्य तथा धर्म से प्रमाद न करो, कुशल कर्म से प्रमाद न करो, देव कार्य तथा पितृकार्य में प्रमाद मत करो।[1]

समावर्तन संस्कार बालक को अपने आगामी जीवन में सन्मार्ग पर चलने शुद्ध व पवित्राचरण करने का संदेश देता है। इस संस्कार में सभी सद्गुणों को ग्रहणकर मनुष्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष की साधना में जीवन व्यतीत करता था।

---

1. वेदमनूचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यंवद धर्मचर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनम् आहृय प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायान्न प्रमदिव्यम्।। देवपितृ कार्याभ्यां न प्रमदिव्यम्।

   तै. उ.–2/11

महाभारत महाकाव्य में समावर्तन संस्कार का विस्तार प्राप्त नहीं होता है। फिर भी हम एक सन्दर्भ से ऐसा देख सकते हैं जिसमें अपने पिता से सम्पूर्ण विद्याग्रहण करके महर्षि शुक देव गुरु को दक्षिणा देकर समावर्तन संस्कार करते हैं।

एक स्थान पर यह उल्लेख है कि शुक देव जी ने वृहस्पति देव को अपना गुरु बनाया तथा उनसे रहस्य और संग्रह सहित सम्पूर्ण वेदों का, समूचे इतिहास का तथा राजशास्त्र का भी अध्ययन कर गुरु को प्रसन्न कर समावर्तन संस्कार के पश्चात् घर को प्रस्थान किया।[1]

---

1. सोऽधीत्य निखिलान् वेदान् सरहस्यान् ससंग्रहान्।
इतिहासं च कात्स्र्न्येन राजशास्त्राणि वा विभो।
गुरवे दक्षिणां दत्वा समावृत्तो महामुनिः।। 25.

महा.– 12/326/25 पृ. 5301

विवाह संस्कार

हिन्दू संस्कारों में विवाह संस्कार सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्कार है। प्राचीन काल से ही भारतीय परम्परा में इस संस्कार का उल्लेख व इस संस्कार की महत्ता का कथन भी दिखाई देता है। पुत्र प्राप्ति की कामना तथा प्रार्थना को इस संस्कार का मूल उद्‌देश्य माना गया है क्योंकि सन्तान से मनुष्य निरन्तर वर्धित होता है तथा अमरत्व को प्राप्त करता है।१

वैदिक परम्परा में ही अन्यत्र वधु का पाणिग्रहण करते हुए वर कहता है हे वराननने! मैं पुत्र प्राप्ति और सौभाग्य प्राप्ति के लिए तुम्हें स्वीकार करता हूँ, और दोनों अग्नि की परिक्रमा कर एक दूसरे को स्वीकार करते हैं। विवाह संस्कार का महत्व इस रूप में देखा जा सकता है कि विवाह के पश्चात् पत्नी स्वयं को पति की सम्राज्ञी मानकर गृहस्थ साम्राज्य का संचालन करती है, और पति भी अपने अधिकार व अपना सर्वस्य पत्नी को सौंप देता है, जैसे रत्नवर्षक महासागर नदियों के मिलने पर स्वयं भी मानो नदियों को समर्पित कर देता है।२

अतः भारतीय परम्परा में विवाह संस्कार के प्रमुख तीन उद्‌देश्य प्राप्त होते हैं। प्रथमतः धर्मकार्यों को करने हेतु विवाह संस्कार, द्वितीय पुत्र प्राप्ति के लिए विवाह संस्कार, तृतीय स्वाभाविक रति हेतु विवाह संस्कार। इनमें धर्मकार्य ही प्रमुख उद्‌देश्य माना गया है।

---

1. ऋग्– 5/4/10, 10/35/36
2. यथा सिन्धुर्नदीना साम्राज्यं सुषुवे पृथां।
   एवं त्वं सम्राज्येधि पत्युरस्तं परेत्य।।

   अथर्व.– 14/1/43

परवर्ती युग विवाह के बहुविध रूप वर्णित हुए हैं जिसमें विवाह के प्रमुख आठ प्रकारों का उल्लेख मिलता है। इन आठ विवाहों में प्रथम चार ब्राह्मणों के लिए श्रेष्ठ कहे गये हैं, तथा शेष तीन विवाह क्षत्रियों के लिए एवं राक्षस विवाह वैश्य व शूद्र के लिए श्रेयस्कर माना गया है। ये आठ विवाह हैं- ब्राल विवाह, दैव विवाह, आर्ष विवाह, प्राजापत्य विवाह, आसुर विवाह, गान्धर्व विवाह, राक्षस विवाह, पैशाच विवाह।[1]

इन आठ विवाह प्रकारों के अतिरिक्त एक अन्य प्रथा भी प्राप्त होती है, वह है स्वयंवर प्रथा। जब कन्या विवाह के योग्य हो जाती थी, तब दूर-दूर से राजाओं को आमंत्रित किया जाता था। कन्या स्वयं ही वर का वरण करती थी। ये स्वयंवर प्रथा कहलाती थी। जब कभी पिता कन्या के योग्य वर को नहीं खोज पाता था, तब कन्या के द्वारा स्वयं ही वर को खोजने का उल्लेख भी अन्यत्र मिलता है।[2]

---

1. ब्रह्मो दैवस्तथैपार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
   गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।
   म. स्म.– 3/21, आ. गृ. सू.– 1/16, या. स्मृ. 1/50
2. चतुरो ब्राह्मणस्याधान्प्रशस्तान् कवयो विदुः।
   राक्षसं क्षत्रियस्यैकं आसुरं वैशशूद्रयोः।।
   पन्थानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्मौ स्मृताविह।
   पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन्।।
   म. स्मृ.– 3/24, 25, या. स्मृ. 1/64
   आ. रा. वि. काण्ड– 11/65, 3/63–64

महाभारत महाकाव्य में विवाह संस्कार के प्रसंग प्राप्त हैं। इनमें से एक स्थान पर कहा गया है कि राजा कुन्तीभोज की पुत्री अत्यधिक सुन्दर थी। उनके पिता ने अनेक श्रेष्ठ राजाओं को बुलाकर अपनी पुत्री को स्वयंप्रथा में उपस्थित किया। देवी कुन्ती ने उन सभी नृपश्रेष्ठ में भरतवंशशिरोमणि को देखा। वह उनके तेज रूप सौन्दर्य को देखकर मोहित हो गयी और पति रूप में उन्होंने महाराज पाण्डु का ही वरण किया। तब कुन्ती भोज ने कुन्ती और पाण्डु का विवाह संस्कार सम्पन्न करके उन्हें नाना प्रकार के धन, रत्नों द्वारा सम्मानित किया।[1]

इससे ध्वनित होता है कि तब कन्या अपने अनुरूप बर से विवाह कर सकतीं थीं।

विवाह संस्कार के सन्दर्भ में एक स्थान पर स्वयंवर प्रथा को शर्त के द्वारा सम्पन्न किया गया। देवी द्रौपदी के विवाह के लिए उनके पिता द्रुपद ने लक्ष्य बेध का स्वयंवर किया, जो दृढ़ धनुष द्वारा एक कृत्रिम आकाश यन्त्र के छिद्र के भीतर बाण को निकालकर लक्ष्य बेध करेगा उसका विवाह द्रौपदी से होगा, ऐसी घोषणा की गयी। और श्रेष्ठ धनुर्धर अर्जुन ने लक्ष्यबेध कर द्रौपदी को प्राप्त किया।[2]

---

1. ततः सा कन्तिभोजेन राज्ञाऽऽहूय मराधिपान्।
   पिता स्वयंवरे दत्ता दुहिता राजसत्तम्।।
   स तया कुन्ति भोजस्य दुहित्रा कुरूनन्दनः।
   युयुजेऽमितसौभाग्यः पौलोम्या मधवानिव।।
   कुन्त्याः पाण्डोश्च राजेन्द्र कुन्तीभोजो महीपतिः।
   कृत्वादाहं तदा तं तु नानावसुभिरर्चितम्।।
   महा.– 1/111/3, 13 पृ. 336–337
2. महा.– 1/184/10, 11, 1/187 पृ. 542–43

विवाह संस्कार के सन्दर्भ में महाभारत में एक स्थान पर कन्या का हरण कर विवाह शूरवीरों के लिए श्रेष्ठ बताया गया है। एक बार अर्जुन सुभद्रा के रूप सौन्दर्य को देख उन पर मोहित हो जाते है तथा श्रीकृष्ण के कहने पर वे सुभद्रा का हरण कर लेते हैं। तत्पश्चात् उनका विवाह सुभद्रा से हो जाता है।[1]

अत्येष्टि संस्कार

किसी भी हिन्दू के जीवन का अन्तिम संस्कार अन्त्येष्टि है। जिसके द्वारा उसके इहलौकिक अस्तित्व का पटाक्षेप हो जाता है, इस संस्कार के संकेत प्रारम्भ से ही देखने को मिलते हैं। ऋग्वेद में एक स्थान पर मृतक को लक्ष्य करके यह कहा गया है कि जितने मृत पुरुषों के शव पृथ्वी तल पर निक्षिप्त हैं, तथा शेष जो अग्नि में भस्म हो गये हैं वे सभी मृतक स्मृतिवान् हों।[2]

इस प्रकार अन्यत्र भी इस संस्कार के संकेत मिलते हैं जैसे कि अथर्ववेद में 'पितर' सम्बोधन केवल मृतात्माओं व प्रेतात्माओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। तब मृतक का संस्कार करते समय अग्नि देव से यह प्रार्थना की जाती थी कि हे अग्निदेव! आप इस मृतक में जो अविनाशी ईश्वरीय अंश है उसे आप अपने तेज से प्रखर बनायें व उन्हें पुण्यात्माओं के लोक में ले जाऐं।[3]

पुराण परम्परा के अन्तर्गत भागवतमहापुराण में भी इस संस्कार का उल्लेख मिलता है। जब महाभारत के युद्ध में भीष्म ने अपने प्राणों का परित्याग किया तब उसका कथन है कि पितामह ने अपनी आत्मा का आधान स्वयं अपनी आत्मा में ही किया और वे अपनी श्वासों को विराम देकर उपराम हुए थे।[4]

---

1. महा.– 1/218/21, 219/6, 7, 220 पृ. 625, 626
2. ऋक.– 10/15/12
3. अथर्व. – 18/02/54
4. भा. म. पु.– पृ. 66

महाभारत महाकाव्य में एक दो स्थान पर इस संस्कार का उल्लेख मिलता है। एक स्थान पर महाराज पाण्डु के मृत्यु को प्राप्त करने के पश्चात् देवी माद्री भी उनके साथ सती हुई। तब प्रेतकर्म के पारंगत विद्वान पुरोहित काश्यप ने सम्पूर्ण सामग्री (सुवर्णखण्ड, धृत, तिल, दही, चावल, जल से भरा घड़ा और फरसा) को एकत्र कर तपस्वी मुनियों द्वारा अश्वमेध की अग्नि मँगवाई और उसे चारों ओर से चिता से छुलाकर यथा योग्य- विधि से पाण्डु का दाह संस्कार करवाया।[1]

ये इस बात का सूचक है कि विधि विधान से हुए दाह संस्कार से मृत स्वर्गलोक को प्राप्त होता है।

एक अन्य स्थान पर भी ऐसा ही उल्लेख है- पितामह के प्राण त्यागने के पश्चात सम्पूर्ण विधियों से उनका पितृ मेध कर्म सम्पन्न किया गया। अग्नि में बहुत सी आहुतियाँ दी गयीं। सामगान करने वाले ब्राह्मण साममन्त्रों का गान करने लगे तथा धृतराष्ट्र आदि ने चन्दन की लकड़ी व सुगन्धित वस्तुओं से भीष्म के शरीर को आच्छादित करके उनकी चिता में आग लगा दी।[2]

इस प्रकार महाभारत काल में सम्पूर्ण विधिविधानों से मृत व्यक्ति का संस्कार किया जाता था, ताकि वह उत्तम लोकों को प्राप्त हो।

---

1. महा.– 1/124/32 पृ. 374
2. महा.– पृ. 6097

कर्म सिद्धान्त तथा पुनर्जन्म

मनुष्य के जन्म और मरण तथा उसके सुख और दुख उसके कर्म पर ही आश्रित हैं। कर्म का सम्बन्ध मनुष्य के धर्म से है, अर्थात् उसकी धारणा से, मनोवृत्ति से अथवा ज्ञान और ज्ञेय से हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहा है कि कोई भी संसार का प्राणी ऐसा नहीं है, जो एक क्षण भी बिना कर्म किए रह सके। ऐसा इसलिए है कि सारा का सारा मनुष्य समुदाय प्रकृति जनित गुणों द्वारा परवश होकर कर्म करने के लिए बाध्य किया जाता है।[१]

महाभारत महाकाव्य में कर्म, कर्मफल तथा जीव के द्वारा किए गए कर्मों से ही पुनर्जन्म प्राप्त करने की अनेक कथायें है। एक स्थान पर राजा नहुष जो अपने दुष्कर्मों से सर्पयोनि प्राप्त करते हैं उनका व भीमसेन का प्रसंग मिलता है। राजा नहुष जो पाण्डवों के पूर्वजों के भी पूर्वज थे, वे ब्राह्मणों से दुर्व्यवहार करते थे। उनका अनादर करते थे। ब्राह्मणों से अपनी पालकी ढुलवाते थे। यद्यपि उन्होंने अनेक यज्ञ किये, तपस्या की, स्वाध्याय किया तथा अपने पराक्रम व सत्कर्मों से तीनों लोकों का निष्कण्टक राज्य प्राप्त किया, किन्तु उनके द्वारा किये गये बुरे कर्म का फल भी उन्हें मिला। स्वर्ग में जब महर्षि अगस्त्य उनकी पालकी ढो रहे थे, तब नहुष ने उन्हें लात मार दी। महर्षि अगस्त्य के शाप से वे सर्पयोनि में गिरे।[१]

---

1. न हिं कश्चिद् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
   कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।

   भ. गी. 3/5

   महा. पृ. 1449–1458 (3/179), 180, 181

सुकर्म से सुफल और अपकर्म से कुफल प्राप्त करने का संकेत भी महाभारत महाकाव्य में प्राप्त होता है।

जैसा कि एक स्थान पर पितामह युधिष्ठिर को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि मनुष्य काम क्रोध आदि दोषों से युक्त बुद्धि की प्रेरणा से पापकर्म में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार वह अपने ही कार्यों द्वारा पाप करके दुखमय लोक में गिरता है। इसके विपरीत जो श्रृद्धालु, जितेन्द्रिय, धनसम्पन्न व शुभ कर्म परायण होते हैं, वे स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं।[1]

जिस मनुष्य ने अपने पूर्वजन्मों में जैसे-जैसे कर्म किए हैं, वह अपने ही किए हुए कर्मों का फल सदा अकेला ही भोगता है।[1]

---

1. आत्मनार्थयुक्तेन पापे निविशते मनः।
स्वकर्मकलुषं कृत्वा कृच्छ्रे लोके विधीयते।।
श्रृद्धधानाश्च दान्ताश्च धनाढ्या:शुभकारिणः।
यान्ति स्वर्गात् स्वर्गं सुखात् सुखम्।
महा.– 12/181/2 ,4 पृ. 4888
येन् येन् यथा यद् यत् पुरा कर्म समीहितम्।
त्वदेकतरो भुडक्ते नित्यं विहितमात्मना।।
महा.– वही पृ. 4888– 12/181/10

अपने-अपने कर्म का फल, एक धरोहर के समान है जो कर्मजनित अदृष्ट के द्वारा सुरक्षित रहता है। उपयुक्त अवसर आने पर यह काल इस कर्मफल को प्राणिसमुदाय के पास खींच लाता है। सम्मान-अपमान, लाभ हानि, उन्नति-अवनति ये पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार ही बार-बार प्राप्त होते हैं और प्रारब्ध बोध के पश्चात् निवृत्त हो जाते हैं। दुख भी अपने द्वारा किए हुए कर्मों का फल है और सुख भी अपने पूर्वकृत कर्मों का परिणाम।[१]

कोई बालक हो, तरुण हो, या वृद्ध हो, वह जो भी शुभाशुभ कर्म करता है, दूसरे जन्म में उसी-उसी अवस्था में उस उस कर्म का फल उसे प्राप्त होता है।[२]

---

1. स्वकर्मफल निक्षेपं विधानपरिरक्षितम्।
   भूतग्राममिमं कालः समन्तात् परिकर्षति।।
   सम्मानश्चावमानश्च लाभालाभौ क्षयोदयौ।
   प्रवृता विनिवर्तन्ते विधानान्ते पुनः पुनः।।

   महा.– 12/181/11, 13 पृ. 4888
2. बालो युवा च वृद्धश्च यत् करोति शुभाशुभम्।
   तस्यां तस्यामवस्थायां तत् फलं प्रतिपद्यते।।

   महा.– वही पृ. श्लोक 15

पुनर्जन्म के सम्बन्ध की भी अनेकों कथायें महाभारत में प्राप्त होती हैं। एक स्थान पर महर्षि व्यास तथा शुभ कर्मों से एक कीड़े को अपनी पूर्वजन्म की स्मृति का प्रसंग है। वह कीड़ा पहले जन्म में बहुत धनी शूद्र था। वह कंजूस, क्रूर, ब्याजखोर था। ब्राह्मणों के प्रति अनादर भाव रखता था। किसी अतिथि को भोजन नहीं कराता था। इस प्रकार वह अनेक दुष्कर्मों को कर पाप का भागी बन गया और कीड़े की योनि में जन्म प्राप्त किया। व्यास जी के दर्शन प्रभाव से वह कीड़ा क्रमशः शाही, गोधा, सूअर, मृग, पक्षी, चाण्डाल, शूद्र, वैश्य की योनि में जन्म लेता हुआ क्षत्रिय जाति में उत्पन्न हुआ। क्षत्रिय योनि में पुनः व्यास जी के दर्शन कर व उनकी पूजा कर ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है। वह सदाचारी ब्राह्मण होकर पुण्यमय स्वर्गलोक को जाता है।[1]

---

1. अहमासं मनुष्यो वै शूद्रो बहुधनः प्रभो।
   अब्रह्मण्यो नृशंसश्च कदर्यो बृद्धिजीवनः।।

   महा.– 13/117/19

   सम्भूतः क्षत्रियकुले प्रसादादमितौजसः।
   तमृषिं दृष्टुमगत सर्वास्वन्यासु योनिषु।।

   महा.– 13/118/9

   महा.– 13/118/119

एक अन्य स्थान पर कौशिक ब्राह्मण व धर्मव्याध का प्रसंग है। धर्म व्याध जो पूर्वजन्म में ब्राह्मण था, वह वेदांगों का पारंगत तथा विद्याध्ययन में कुशल था। उसकी धनुर्वेद में कुशल राजा से मित्रता हो गयी। उस राजा के संसर्ग से वह ब्राह्मण भी धुनर्वेद में कुशल हो गया। एक बार राजा मंत्रियों सहित शिकार को गये। वहाँ अनेक पशुओं का वध किया। तब उस ब्राह्मण ने भी एक भयानक बाण छोड़ा, जो कि मुनि श्रेष्ठ को लग गया।

उन मुनीश्वर ने शाप दिया। हे निर्दयी ब्राह्मण तू शूद्रयोनि में जन्म लेकर व्याध होगा। क्षमा याचना करने पर मुनि ने कहा कि व्याध होते हुए भी तू धर्मज्ञ होगा। शाप का निवारण होने पर तू पुनः ब्राह्मण हो स्वर्गलोक को प्राप्त करेगा।[1]

इस प्रकार ब्राह्मण ने अपने कर्मदोष से व्याध (शूद्र) वर्ण में जन्म लिया तथा शूद्र होकर श्रेष्ठकर्म से वह पुनः ब्राह्मण हुए।

---

1. महा.– 3/215, 216– पृ. 1572, 1575

नैतिक तथा आचारात्मक दृष्टि से पारिवारिक संगठन

माता-पिता, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी, गुरू-शिष्य व अन्य सम्बन्धी

माता-पिताः– परिवार में निश्चित रूप से पिता का महत्वपूर्ण स्थान रहा और वह प्राचीनकाल से ही रहा है। महाभारत में अनेक पारिवारिक स्थितियों का चित्रण है, इसलिए इसमें पिता के अनेक रूप देखने को मिलते हैं।

एक पिता ऐसे हैं जो अपने ही भाई के पुत्रों के बल व पराक्रम को देखकर उनसे ईर्ष्या करते हैं। राज्य तथा पुत्र प्रेम के मोह में फंसकर वे अपने भाई के पुत्रों का वध करने की आज्ञा दे देते हैं।

धृतराष्ट्र पाण्डु के पुत्र पाण्डव के पराक्रम से उनके प्रति ईर्ष्या द्वेष का भाव रखते थे। उनका पुत्र दुर्योधन भी यही कहता है कि यदि इस पाण्डु कुमार युधिष्ठिर ने ये राज्य प्राप्त कर लिया तो भविष्य में ये राज्य व सम्पत्ति उन्हीं के पुत्र को प्राप्त होगी अर्थात् इसके बाद उनका पुत्र ही अधिकारी होगा। ऐसी दशा में हम अपने पुत्रों सहित अवहेलना के पात्र होगें। अपने पुत्र की बात सुनकर धृतराष्ट्र चिन्तित हो गये तथा दुर्योधन के कहने पर उन्होंने पाण्डवों से वारणावत नगर जाने के लिए कहा, जहाँ गुप्त रूप से उनके वध की योजना थी।[1] इस प्रकार महाभारत में ऐसे पिता का भी उल्लेख है।

---

1. ततः सुबलपुत्रस्तु राजा दुर्योधनश्च।
   दुःशासनश्च कर्णश्च दुष्टं मन्त्रममन्त्रयन्।।
   ते कौरव्यमनुज्ञाप्य धृतराष्ट्रं नराधिपम्।
   दहने तु सुपुत्रायाः कुन्त्या बुद्धिमकारयन्।। महा.– 1/140/1,2
   महा.– 1/138, 139, 140, 141
   भा. सावि.–पृ. 111, 113

एक स्थान पर ऐसे पिता का चरित्र भी दृष्टव्य होता है। महर्षि वशिष्ठ जो ऋषियों में सर्वश्रेष्ठ तपस्वी थे, उनके सौ पुत्रों में शक्ति नामक पुत्र सबसे बड़े थे। एक बार कल्माषपाद नामक राजा ने उनके साथ धृष्टता पूर्वक व्यवहार किया और उन्हें चाबुक से मारा, शक्ति मुनि ने शाप दिया कि हे राजा! तू राक्षस होकर मनुष्यों के मांस में आसक्त होकर पृथ्वी पर विचरता रहेगा। इस प्रकार विश्वामित्र ने ये वृतान्त देख अपनी योजना के अनुसार इस शाप का प्रभाव दुगुना कर दिया। राजा में राक्षसी प्रवृत्ति पूर्णतः जाग्रत हो गयी, उन्होंने सर्वप्रथम शक्ति मुनि को खा लिया। उसके पश्चात् शेष वशिष्ठ पुत्रों को खा लिया। विश्वामित्र भी ऐसा ही चाहते थे।

तब साधारण मनुष्य की भांति वशिष्ठ ऋषि अपने पुत्रों को मृत देख करुण विलाप करने लगे। अपने मृत पुत्रों के दुखी हो उन्होंने अपने प्राण लेने चाहे। वे शिखर से कूद पड़ें। उन्होंने स्वयं को जलती हुई प्रचण्ड अग्नि में झोंक दिया फिर वे समुद्र में कुद गये, परन्तु किसी भी प्रकार से अपने प्राण हनन न कर पाये।[1]

---

1. स ताञ्छक्त्यवरान्पुत्रान् वशिष्ठस्य महात्मनः।
   भक्षयामास संक्रुद्धः सिंहः क्षुद्रमृगानिव।।
   न ममार न पातेन स यदा तेन् पाण्डव।
   तदाग्निमिद्धं भगवान् संविवेश महावने।।
   त तदा सुसमिद्धोऽपि न ददाह हुताशनः।
   स समुद्रमभिप्रेक्ष्य शोकाविष्टो महामुनिः।।
   स समुद्रोर्मिवेगेन् स्थले न्यस्तो महामुनिः।
   न ममार यदाविप्रः कथंचित् संशितव्रतः।। महा.– 1/175/ 42 से 49

एक ऐसे पिता का सन्दर्भ भी देखने को मिलता है जो अपने मृत पुत्र के प्राणों का प्रतिशोध लेने के लिए स्वयं के प्राण त्यागने कोतत्पर हो जाता है। अर्जुन को युधिष्ठिर के द्वारा जब यह ज्ञात होता है कि सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु को द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, बृहदूल और कृतवर्मा ने (छह महारथियों) मिलकर अनीति पूर्ण ढ़ंग से उसका वध किया तथा उसकी सहायता के लिए तत्पर युधिष्ठिर, भीम व नकुल-सहदेव को जयद्रथ ने शिव जी के वरदान के प्रभाव से रोक दिया।

उसी क्षण क्रोधाग्नि व पुत्र शोक मग्न अर्जुन ने जयद्रध वध करने का प्रण लिया और कहा, यदि कल सूर्यास्त होने तक मैंने जयद्रथ का वध नहीं किया तो मैं प्रज्ज्वलित अग्नि में प्रवेशकर जाऊँगा।[1] यहाँ पिता का पुत्र के प्रति असीम प्रेम परिलक्षित होता है।

---

1. ततो द्रोणः कृपः कर्णो द्रोणिः कौसल्य एव च।
   कृतवर्मा च सौभद्रं षड् रथाः पर्यवारयन्।।
   यदि व्युष्टामिमां रात्रिं श्वो न हन्यां जयद्रथम्।
   यद्यस्मिन्नहते पापे सूर्योऽस्तमुपयास्ति।।
   रहैव सम्प्रवेष्टाहं ज्वलितं जातवेदसम्।

   महा.– 7/73/ 10,46,48

   कृष्ण औ. मा. स.– पृ. 185 से 191

   भा. सावि.– पृ. 557–558

माता के अनेक रूपों के दर्शन भी महाकाव्य में होते है। एक माता ऐसी है जो अपनी पुत्रवधू के अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए अपने पुत्रों को युद्ध करने के लिए उत्साहित करती है। देवी कुन्ती भगवान श्रीकृष्ण से अपने पुत्रों के पास संदेश भेजती है कि क्षत्राणी जिसके लिए अपने पुत्र को जन्म देती है उसका उपयुक्त अवसर आ गया है। अर्जुन और भीमसेन तुम द्रौंपदी के इच्छित पथ पर चलो। वे कृष्ण को बताती हैं कि उन्हें सर्वाधिक दुख अपनी पुत्रवधू के अपमान का है। हे पाडण्वों! तुम युद्ध के लिए उद्यत् रहो। दुर्योधन और दुःशासन ने द्रौपदी को जो अपशब्द कहे, उन्हें स्मरण कर युद्ध करो।[1] यहाँ माता का क्रोधपूर्ण व पुत्रों को उत्साहित करने का उद्गार प्रकट होता है।

---

1. एतद धनंजयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः।
   यदर्थे क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः।।
   न हि वैरं समासाद्य सीदन्ति पुरूषर्षभाः।
   तयोश्चैतदवज्ञानं यत् सा कृष्णा समागता।।
   दुःशासनश्च यद् भीमं कटुकान्यभ्यभाषत।
   पश्यतां कुरूवीराणां तच्च संस्मारये पुनः।।
   महा.– 5/137 पृ. 2409–2410
   भा. सावि.– पृ. 427, 429

एक ऐसी माता का भी उल्लेख महाभारत में आता है, जो अपने पाँच पुत्रों का छल से वध किये जाने पर अपने प्राणों का भी परित्याग करने के लिए तैयार हो जाती है। द्रोण पुत्र, द्रौपदी के पाँचों पुत्रों को रात्रि के समय सोये हुए रहने पर उनका वध कर देता है। तब द्रौपदी अत्यधिक करुण विलाप करती है और कहती है- यदि आज आप रणभूमि में पराक्रम प्रकट करके सगे सम्बन्धी सहित पापाचारी द्रोणकुमार के प्राण नहीं हर लेते तब तक मैं यहीं अनशन करके अपने प्राणों का अन्त कर दूँगी।

वह क्रोध से युक्त होकर भीमसेन से अपने पुत्रों का प्रतिशोध लेने के लिए उन्हें क्षत्रिय धर्म का स्मरण करने के लिए कहती हैं। दुःख के कारण वे अत्यन्त करुण विलाप करती हैं।[1]

---

1. तस्य पापकृतो द्रौणेर्न चेदध त्वया रणे।
   ह्रियते सानुबन्धस्य युधि विक्रम्य जीवितम्।।
   इहैव प्रायमासिष्ये तन्निबोधत् पाण्डवाः।
   न चेत् फलमवाप्नोति द्रौणिः पापस्य कर्मणः।।
   तस्या बहुविधं दुःखान्निशम्य परिदेवितम्।
   नामर्षयत् कौन्तेयो भीमसेनो महाबलः।।

   महा.– 10/11/ 14, 15, 27 पृ. 4358– 59

   भा. सावि.– पृ. 580
   कृ. औ. मा. सम्.– 251–255

एक ऐसी माता भी है जो अपने पुत्रों के विनाश को देखकर पुत्रवधुओं के करुण विलाप को सुनकर स्वयं व्याकुल हो जाती है। क्रोधाग्नि से युक्त भगवान श्रीकृष्ण को ही शाप दे देती है जो इस बात का द्योतक है कि माता के हृदय से निकले हुए शाप से भगवान भी नहीं बच पाते।

गान्धारी ने अपने पुत्र एवं अन्य योद्धा जो मृत हो चुके थे (दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण, भीष्म, द्रोण) उनको व उनके समीप रुदन करती हुई पुत्रवधुओं को देखकर (गान्धारी) भगवान श्रीकृष्ण के सम्मुख शोकोद्गार किया और कहा कि आपने जानते हुए भी कुरुवंशियों का विनाश होने दिया। मधूसूदन आज से छत्तीसवां वर्ष होने पर तुम्हारे सभी कुटुम्बियों का नाश होगा और तुम अनाथ के समान वन में विचरोगे।[1]

यह सत्य ही हुआ। माँ के शोक पीड़ित हृदय से निकले हुए शब्द से भगवान श्रीकृष्ण भी नहीं बच पाये।

---

1. पाण्डवा द्यार्तराष्ट्राश्च दग्धाः कृष्ण परस्परम्।
   उपेक्षिता विनश्यन्तस्त्वया कस्माज्जनार्दन।।
   एवमप्युपस्थिते वर्षे षट्त्रिंशे मधुसूदन।
   हतज्ञातिर्हतामात्यो हतपुत्रो वनेचरः।।
   अनाथवदविज्ञातो लोकेष्वनभिलक्षितः।
   कुत्सितेनाभ्युपायेन् निधनं समवाप्स्यसि।।
   महा.– 11/25/39, 44, 45 पृ. 4419
   कृ. आ. कृ. (प्रलय)– पृ. 301

पति-पत्नी :- पति के रूप में पुरुष की भूमिका महाभारत महाकाव्य में दिखाई देती है।

सर्वप्रथम तो पाण्डव जो कि पाँच भाई थे और द्रौपदी उनकी पत्नी। परन्तु कभी भी उन पाँचों पतियों में द्रौपदी को लेकर, लड़ाई, झगड़ा नहीं हुआ। उन्होंने नारद जी के कहने पर यह नियम बनाया था कि हम पाँचों में से प्रत्येक के घर में द्रौपदी एक-एक वर्ष निवास करें। द्रौपदी के साथ एकान्त में बैठे हुए हम में से एक भाई को यदि दूसरा देख ले, तो वह बारह वर्षों तक ब्रह्मचर्य पूर्वक निवास करे।[१]

यहाँ पति के आदर्श रूप का उदाहरण परिलक्षित होता है। अतः पाँचों पाण्डव कभी भी एक दूसरे के विरोधी नहीं हुए।

पति के रूप में भीम का चरित्र सर्वश्रेष्ठ है। उसने सदैव द्रौपदी का पक्ष लिया, सदैव उसकी रक्षा की। कौरवों की सभा में दुर्योधन के द्रौपदी को अपशब्द कहने पर उसकी जाँघ को अपनी गदा से तोड़ने की प्रतिज्ञा की। जयद्रथ के द्वारा द्रौपदी का हरण कर लेने पर, उसका पीछा करके बन्दी बनाया। कीचक के द्वारा द्रौपदी का अपमान करने पर कीचक का वध किया।[२]

भीमसेन ने सदैव ही द्रौपदी की रक्षा कर अपने पतित्व धर्म का पालन किया।

---

1. महा.– 1/211 पृ. 606–608
2. महा.– पृ. 908, 909 पृ. 2770
   महा.– 4/22– पृ. 1909
   महा. ता. नि. पृ.– 251

पत्नी के लिए पति ही एक मात्र परम देवता है। यह मान्यता इस भूमि की प्राचीन और सनातन मान्यता है। पत्नी के लिए इसके निमित्त से यह कहा है कि स्त्रियों को सदा पति के अनुकूल ही रहना चाहिए तथा अनन्य भाव से उनकी सेवा करना चाहिए। पति के प्रसाद से नारी की सम्पूर्ण कामनाऐं पूर्ण हो सकती हैं और यदि पति ही कुपित हो जाए तो वह नारी की सभी आशाओं को नष्ट कर सकता है।[1]

महाभारत महाकाव्य में गान्धारी का चरित्र भी स्मरणीय है। वे सदैव अपने पति के अनुकूल ही रही, कभी उनके दोष नहीं देखे। यहाँ तक कि जब गान्धारी को ये पता चला कि धृतराष्ट्र अन्धे हैं, और माता-पिता ने मेरा विवाह उन्हीं से करना तय किया तो उन्होंने रेशमी वस्त्र लेकर उसके कई तह करके उसी से अपनी आँखें बाँध ली। इस प्रकार सुन्दर बर्ताव से समस्त गुरुजनों की प्रसन्नता प्राप्त करके पतिपरायणा गान्धारी ने कभी दूसरे पुरुषों का नाम तक नहीं लिया।[2]

महाभारत के अन्तर्गत एक पतिव्रता स्त्री के रूप में सावित्री का चरित्र भी आता है। राजा अश्वपति की पुत्री सावित्री अपने पति के लिए जिसका वरण करती है, वह अत्यधिक निर्धन व अल्पायु होता है। किंतु सभी कुछ जानकर भी सत्यवान् से विवाह करती है और जब यमराज सत्यवान् के प्राण लेने आते हैं, तो वह यमराज के साथ संवाद कर उन्हें सन्तुष्ट करती है। जिससे वह पुनः अपने पति को जीवित कर अपने ससुर का राज्य पुनः प्राप्त करती है।[3]

यहाँ सावित्री के पतिव्रता धर्म का उल्लेख किया गया है।

---

1. महा.– 3/234/2 पृ. 1623
2. गान्धारी त्वथ शुश्राव धृतराष्ट्रमचक्षुषम्।
   आत्मानं दित्सिंत चास्मै पित्रा मात्रा चं भारत।।
   ततः सा पट्टमादाय कृत्वा बहुगुणं तदा।
   बबन्ध नेत्रे स्वे राजन् पतिव्रतपरायणा।।
   महा.– 1/109/13,14 पृ. 333 भा. सावि. पृ. 103
3. 3/295, 296, 297 पृ. 1791, 92 भा. सावि. पृ. 306–313

पुत्रः– महाभारत महाकाव्य में पुत्र के रूप में भी पुरुष की अनेकों भूमिकाऐं देखने को मिलती हैं। वहीं पर एक पुत्र ऐसा है जिसने अपने पिता की प्रसन्नता के लिए राज्य का परित्याग कर जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन करने की प्रतिज्ञा ली। भीष्म पितामह (देवव्रत) ने अपने पिता शान्तनु के शोक को दूर करने के लिए व देवी सरस्वती से उनका विवाह करने के लिए प्रतिज्ञा की थी। अपने पुत्र धर्म का पालन करते हुए, उन्होनें कभी भी राज्य ग्रहण नहीं किया। सदैव अपने सौतेले भाइयों की रक्षा की तथा कुरुदेश के राज्य की उन्नति में संलग्न रहे।[1]

इसके विपरीत दुर्योधन सदैव अपने माता (गान्धारी) पिता (धृतराष्ट्र) की आज्ञा का खण्डन कर अवहेलना करता रहा। अपने भाइयों से ईर्ष्या–द्वेष करता रहा। सदैव राज्य–लक्ष्मी की कामना करने वाले दुर्योधन ने कभी भी अपने माता–पिता के वचनों का पालन नहीं किया। इतना ही नहीं गान्धारी धृतराष्ट्र व अन्य सभी गुरूजनों का यह कथन था कि पाण्डवों से सन्धि करके उन्हें आधा राज्य दे दो। किन्तु दुर्योधन ने माता पिता की आज्ञा न मानकर पाण्डवों को सुई की नोंक बराबर राज्य भी न देने का निश्चय किया।[2]

---

1. राज्यं तावत् पूर्वमेव मया व्यक्तं नराधिपः।
   अपत्यह्वेतोरपि च करिष्येऽथ विनिश्चयम्।।
   महा.– 1/100/95, पृ. 311–312
   भा. सावि. पृ.– 96–97 ओ. महा.– पृ. 44–45
2. ध्रियमाणे महाबाहौ मयि सम्प्रति केशव।
   यावृद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव।
   तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति।। 25
   महा.– 5/127/25 पृ. 2381

महाभारत के अन्तर्गत परशुराम जी का उल्लेख भी आता है। जमदग्नि पुत्र परशुराम अपने माता-पिता के श्रेष्ठ आज्ञाकारी पाँच पुत्रों में सबसे छोटे थे। एक बार महर्षि जमदग्नि ने अपनी पत्नी रेणुका को धैर्य से च्युत व ब्रह्म तेज से वंचित हुई देख अपने चारों पुत्रों को अपनी माता का वध करने के लिए कहा। किन्तु वे मातृ स्नेह के कारण कुछ न कर सके। परशुराम जी के लौटने पर पिता ने इनसे भी वही कार्य करने के लिए कहा पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करके उन्होंने फरसा लेकर माता का मस्तक काट दिया। बाद में पुत्र की इच्छा से पिता ने माता को पुनः जीवित कर दिया।

इतना ही नहीं परशुराम जी ने अपने पिता की निर्मम हत्या करने वाले अपने क्षत्रिय शत्रुओं का वध कर इस पृथ्वी को इक्कीस बार निःक्षत्रिय किया।[१]

एक अन्य सन्दर्भ में जब माता कुन्ती अपनी ममता को त्यागकर लोक-लज्जा के भय में बँध जाती है और कर्ण जैसे वीर पुत्र का परित्याग कर देती है तब उन्हीं के ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर उन्हें शापित करते हैं।[२]

---

1. जहीमां मातरं पापां न च पुत्र व्यथां कृथाः।
   तत आदाय परशुं रामो मातुः शिरोऽहरत्।।
   त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निः क्षत्रियां प्रभुः।
   समन्तपञ्चके पंच चकार रुधिरह्रदान्।।
   महा.– 3/116, 3/117 पृ. 1279, 1281
2. महा.–
   कृ. आ. क. पृ. 86

गुरु-शिष्य :- महाभारत महाकाव्य में गुरू-शिष्य का भी उल्लेख मिलता है। शिष्य की गुरु के प्रति अनन्य भक्ति भी यहाँ देखने को मिलती है।

एक ऐसा शिष्य जिसने गुरु के कहने पर अपना अगूंठा काटकर गुरु दक्षिणा दी। एकलव्य नामक निषाद पुत्र जब आचार्य द्रोण के पास धनुर्विद्या सीखने के लिए गया, तब द्रोण ने उसे निषाद पुत्र जानकर उसे मना कर दिया फिर एकलव्य ने आचार्य द्रोण की मिट्‌टी की मूर्ति बनाकर उसके सामने नित्य अभ्यास कर धनुर्विद्या में कुशलता ग्रहण की। उसकी धनुर्विद्या में प्रवीणता जानकर उसे आचार्य द्रोण ने गुरु दक्षिणा में उससे दांये हाथ का अगूंठा माँगा, तब एकलव्य ने गुरु को प्रणाम कर सहर्ष अपना अगूँठा काटकर गुरु के चरणों में समर्पित कर दिया।[1] यहाँ गुरु के प्रति शिष्य की अनन्य भक्ति प्रदर्शित होती है।

ऐसे ही शिष्य अर्जुन भी थे। आचार्य द्रोण ने समस्त कौरवों व पाण्डवों को अस्त्र-विद्या में निपुण देखा तब उन्होंने गुरु दक्षिणा के लिए कहा- शिष्यों पाञ्चाल राज द्रुपद को युद्ध में कैद करके मेरे पास ले आओ। सभी कौरवों ने सेना ले जाकर युद्ध किया किन्तु वे ऐसा नहीं कर पाये तत्पश्चात अर्जुन ने द्रुपद से युद्ध करके उन्हें बन्दी बनाया तथा अपनी गुरु दक्षिणा पूर्ण की।[2]

इसी प्रकार गुरु ने भी अपने शिष्य को योग्य जानकर सम्पूर्ण विद्यायें सिखायी। आचार्य द्रोण ने सौ कौरवों व पाँच पाण्डवों में अपने सर्वाधिक योग्य शिष्य अर्जुन को अस्त्र- विद्या की सम्पूर्ण बारीकियाँ सिखायी। अनेक शस्त्र शक्तियों को धारण कराया।[3] अतः गुरु भी निश्चल भाव से शिष्यों को ज्ञान देते थे।

---

1. न हि किंचिददेयं मे गुरूवे ब्रह्मवित्तम्।
   तमब्रवीत् त्वयाङ्गुष्ठो दक्षिणों दीयतामिति।।
   एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा वचो द्रोणस्य दारूणम्।
   प्रतिज्ञामात्मनो रक्षन् सत्ये च नियतः सदा।।
   महा.– 1/131/ 56, 57 ओ. महा.– आदि पर्व पृ. 138–139
2. पांचालराजं द्रुपदं गृहीत्वा रणमूर्धानि।
   पर्यानयत् भद्रं वः सा स्यात परमदक्षिणा।।
   ते यज्ञसेनं द्रुपदं गृहीत्वा रणमूर्धनि।
   उपाजहुः सहामात्यं द्रोणाय भरतर्षभ।।
   महा.– 1/137/.... पृ. 415–419 ओ. महा.– पृ. 141.....143 आदि पर्व
3. महा.– 3/131 पृ. 402, 403, 404

अन्य सम्बन्धी :- महाभारत महाकाव्य के अन्तर्गत अनेक ऐसे सम्बन्ध भी हैं, जो एक आदर्श बन गये।

जैसे दुर्योधन ने पाण्डवों को सदैव कष्ट दिया। उनको सदैव मारने की चेष्टा की, उनका अहित ही किया। किन्तु युधिष्ठिर व पाण्डवों ने सदैव दुर्योधन को चेतावनी देकर छोड़ दिया।

एक बार दुर्योधन का युद्ध गन्धर्वों से हुआ और गंधर्वों ने दुर्योधन को बन्दी बना लिया तब युर्धिष्ठिर ने कहा दूसरों द्वारा पराभव प्राप्त होने पर हम एक सौ पाँच भाई हैं।

तब युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर अर्जुन ने दुर्योधन को गन्धर्वों से मुक्त कराया।[1]

यहाँ युधिष्ठिर की भातृ-प्रेम की भावना प्रदर्शित होती है, वहीं भातृ-प्रेम का एक और प्रसंग भी है।

गंगापुत्र देवव्रत ने अपने सौतेले भाइयों के लिए काशिराज शाल्व से युद्ध करके स्वयंवर में से अम्बिका व अम्बालिका का हरण कर विचित्रवीर्य का विवाह करवाया।[2]

---

1. परैः परिभवे प्राप्ते वयं पंचोत्तरं शतम्।
   परस्पर विरोधे तु वयं पंच शतं तु ते।।
   अजात शत्रोर्वचनं तच्छुत्वा तु धनंजयः।
   प्रतिजज्ञे गुरोर्वाक्यं कौरवाणां विमोक्षणम्।।
   महा.- 3/243/4, 20 पृ. 1642- 1644
2. महा.- 1/102, पृ. 310, 318
   कृ. आ. क. ख. द. पृ. 290

"लोक व्यवहार के वैयक्तिक एवं आचारात्मक सूत्र"

करूणा, मैत्री, हट, ईर्ष्या, क्रोध, लोभ, शरीर, मन, आत्मादि की नैतिक स्थिति।

लोकव्यवहार के सूत्र करुणा एवं मैत्री :- महाभारत महाकाव्य में लोक व्यवहार के विविध मानस-भावों का भी संकेत यत्र-तत्र प्राप्त होता है। जैसे कि अपने पुत्र को पिटारी में डालकर नदी में बहाते समय कुन्ती का हृदय कुरुणा से भर आता है। वह सोचती है कि वह कौन सी भाग्यशालिनी नारी होगी जो सूर्य के समान तेजस्वी, दिव्य कवच कुण्डल से संयुक्त, कमल के समान नेत्र वाले मनोहर बालक को अपना पुत्र बनायेगी। पुत्र की तोतली बोली को सुनेगी। वे लोग भी धन्य हैं जो युवावस्था में तुम्हें देखेगें। इस प्रकार कुन्ती करुण विलाप करती है।[1]

एक सन्दर्भ उस समय का भी दिया जा सकता है जब युधिष्ठिर द्रौपदी को द्यूतक्रीड़ा में हार जाते हैं और दुःशासन केशों से पकड़कर द्रौपदी को भरी राज्य-सभा में लाता है। यहाँ अति कारुणिक दृश्य उपस्थित होता है। द्रौपदी अपनी दयनीय अवस्था को देखते हुए चेतावनी युक्त विलाप करती है।

---

1. कोनु स्वप्नस्तया दृष्टो या त्वामादित्यवर्चसम्।
   दिव्यवर्णसमायुक्तं दिव्यकुण्डलभूषितम्।।
   पद्मायत विशालाक्षं पद्मताम्रदलोज्जवलम्।
   सुललाटं सुकेशान्तं पुत्रत्वे कल्पयिष्यति।।
   महा.– 3/308/18, 19 पृ. 1814, 15 भा. सावि. पृ 315–316
2. किं स्वतः कृपणं भूयो यदहं स्त्री सती शुभा।
   सभामध्यं विगाहेऽद्य कोनु धर्मो महीक्षिताम्।।
   महा.– 2/69/8 पृ. 906–907
   कृ. औ. मा. स. पृ. 23– 26
   भा. सावि. पृ. 182–186

इसी सन्दर्भ में एक अन्य प्रसंग भी है। महाभारत का युद्ध समाप्त होने के बाद विजित पाण्डवों में युधिष्ठिर का हृदय अपने मृत पुत्रों, पौत्रों, सम्बन्धियों तथा सुहृदों को याद करके उद्विग्न हो उठा। युधिष्ठिर शोक करते हुए अपने बन्धुओं से बोले। हम लोगों ने इस तुच्छ पृथ्वी के लिए अवध्य राजाओं की भी, अपने सम्बन्धियों की भी हत्या की और अब उन्हें छोड़कर बन्धुबान्धवों से हीन हो, अर्थ-भ्रष्ट की भाँति जीवन व्यतीत कर रहे हैं।[१]

यहाँ युधिष्ठिर का अपने सम्बन्धियों के प्रति दारुण शोक परिलक्षित हो रहा है।

---

1. स राजा पुत्रपौत्राणां सम्बन्धिसुहृदां तदा।
   स्मरन्नुद्विग्न हृदयो वभूवोद्विग्नचेतनः।।
   महा.– 12/6/12, 12/7
   भा. सावि.– पृ. 593
   युधिष्ठिरं गर्हयामास विप्रास्त्वां गर्हयन्तीति सुपापशीलम्।
   श्रुत्वैव तद् दुःखितमाशु धर्मजं दृष्टवा विप्राः शेपुरमुं भृशार्ताः।।
   श्री. महा. ता. नि.– 29/2,3 पृ. 371– 372
   कृ. औ. मा. स.– 317, 320

मित्रा का जो स्वरूप महाभारत में देखने को मिलता है, वह कहीं तो अत्यधिक घनिष्ठ है और कहीं अत्यधिक स्मरणीय।

कृष्ण और अर्जुन की मैत्री मानव सम्बन्ध का आर्दश है। कृष्ण की मैत्री अर्जुन के लिए ही नहीं अपितु पाण्डवों के लिए भी संजीवनी थी। कृष्ण की अर्जुन पर विशेष प्रीति थी। उन्होंने समय-समय पर अर्जुन को उपदेश देकर उसका मार्ग प्रशस्त किया, उसकी मार्ग की बाधाओं को दूर किया। महाभारत के युद्ध में अनेक बार अर्जुन के प्राणों की रक्षा की। अर्जुन ने भी सदैव एक आज्ञाकारी शिष्य के समान भगवान श्रीकृष्ण की आज्ञा का पालन किया। भगवान श्रीकृष्ण की अर्जुन के प्रति प्रीति जब परिलक्षित होती है, जब खाण्डव-दहन के पश्चात इन्द्र श्रीकृष्ण से वरदान माँगने को कहते हैं तब श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन के प्रति मेरी प्रीति शाश्वत हो।[1]

मित्रता का एक ऐसा प्रसंग भी मिलता है, आचार्य द्रौण व पांचाल नरेश द्रुपद, बाल्यकाल से घनिष्ठ मित्रथे, एक ही स्थान पर रहकर विद्या ग्रहण करते थे। जब उनका अपने-अपने घर लौटने का समय आया तब द्रुपद ने द्रोण से कहा जब पांचाल नरेश मुझे राज्य पर आसीन करेगें, तब मेरा राज्य तुम्हारे उपभोग में आयेगा। दोनों अपने-अपने निवास को लौट गये। कई वर्षों बाद जब द्रोण धनाभाव के कारण अपने मित्र द्रुपद के पास गये, तो द्रुपद ने उनका अपमान कर अत्यधिक उपहास किया और उनको पहचानने से भी मना कर दिया।[2]

---

1. वासुदेवाऽपि जग्राह प्रीतिं पार्थेन शाश्वतीम्।
   ददौ सुरपतिश्चैव वरं कृष्णाय धीमते।।
   महा.– 1/233/13 ।
   कृ. औ. मा. स. पृ. 5, 6, 7 ।
2. महा.– 1/30, पृ. 391–396 ।
   औ. महा.– पृ. 122–124 ।

हठ, ईर्ष्या, क्रोध, लोभ :-

गुण के साथ-साथ मनुष्य में उसी अनुपात में अवगुण भी होते हैं। इस दृष्टि से देखें तो हम यह देख सकते हैं कि महाभारत महाकाव्य के अनेक पात्रों में अनेक प्रकार के दुर्गुण भी दिखाई देते हैं। जैसे कि एक स्थान पर संकेत मिलता है। दुर्योधन को पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण व स्वयं महाराज धृतराष्ट्र भी पाण्डवों से संधि करने के लिए कहते हैं किन्तु दुर्योधन अपना हठ नहीं छोड़ता, स्वयं भगवान श्रीकृष्ण भी संधि का प्रस्ताव लेकर आते हैं तो उनका कथन भी वह स्वीकार नहीं करता। उसका यही हठ और अंहकार समूचे कौरव वंश के नाश का कारण बना।[1]

एक अन्य प्रसंग में हठ के कारण ही महर्षि गालव ने पराजय प्राप्त की थी। महर्षि विश्वामित्र की सेवा सुश्रूषा लगातार १०० वर्षों तक करने पर महर्षि ने अपने शिष्य गालव को वापस जाने की आज्ञा दी। गालव ने महर्षि से कहा मैं आपको क्या गुरुदक्षिणा दूँ। तब महर्षि विश्वामित्र ने वार-वार जाओ-जाओ कहा, किन्तु गालव ने भी बारम्बार गुरुदक्षिणा लेने का आग्रह किया। इस पर महर्षि क्रोधित हो गये। उन्होंने कहा तुम मुझे चन्द्रमा के समान श्वेत रंग वाले आठ सौ घोड़े दो जिनके कान एक ओर श्याम वर्ण के हों। महर्षि गालव का ये हठ अत्यधिक दुष्कर हो गया। उन्होंने सभी दिशाओं व स्थानों में भ्रमण कर छह सौ घोड़े ही एकत्र कर पाये तब उतने ही घोड़े व ययाति कन्या माधवी को गुरुदक्षिणा में दिया।[2]

---

1. महा.-(पृ0 2220, 2372, 2377, 2380, 2385) उद्योग पर्व
   भा. सावि.- पृष्ठ- 407, 413
   कृ. औ. मा. स.- पृ0 50-57
2. निर्बन्धतस्तु बहुशो गालवस्य तपस्विनः।
   किंचिदागत संरम्भो विश्वामित्रऽब्रवीदिदम्।।
   एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम्।
   अष्टौ शतानि मे देहि गच्छ गालव मा चिरम।। महा0-5/106/26, 27
   अश्वानां काङ्क्षितार्थानां पडिमानि शतानि वै।
   शतद्वयेन् कन्येमं भवता प्रतिगृह्यताम्।। महा0- 5/119/12
   कृ. औ. मा. स.- पृ0 66,68

महाभारत महाकाव्य में जो महाभारत के युद्ध का हृदय विदारक वर्णन है उसका प्रमुख आधार ही ईर्ष्या, क्रोध व लोभ है। दुर्योधन के हृदय में पाण्डवों के प्रति आरम्भ से ही ईर्ष्या थी। बाल्यकाल में ईर्ष्यावश भीमसेन को विष देकर गंगा में धकेलना इस बात का द्योतक है।[1]

पाण्डव यदि राजा हुए, तो धन, सम्पत्ति, राज्य, वैभव सब पीढ़ी दर पीढ़ी उन्हीं के पास रहेगा। ऐसा दुर्योधन का मानना था। राजा बनने की प्रबल इच्छा में उसने पाण्डवों का एक साथ वध करने के लिए वारणावत में लाक्षागृह बनवाया। स्वयं धृतराष्ट्र भी पुत्र मोह में फंस पाण्डवों के प्रति ईर्ष्या का भाव रखते थे। वे भी अपने भाई के पुत्रों में ज्येष्ठ युधिष्ठिर को राज्य देना नहीं चाहते थे। राज्य से पृथक करने के लिए धृतराष्ट्र व दुर्योधन ने पाण्डवों को छल से जुए में हराकर वन भेजा। धृतराष्ट्र की सदैव इच्छा थी कि राज्य श्री उसके पुत्रों के पास ही रहे।[2]

यहाँ ईर्ष्या व लोभ ये दोनों ही कारण है जो महाभारत के युद्ध के लिए दोषी हैं।

---

1. ततो दुर्योधनः पापस्तद्भक्ष्ये कालकूटकम्।
   विषं प्रक्षेपयामास भीमसेनजिधांसया।।
   ततस्ते संहिताः सर्वे जलक्रीड़ामकुर्वत्। महा0– 1/127/45, 48
2. कृ0औ0 मा0 स0– पृ0 – 49,52
   महा0– पृ0 आदि पर्व– पृ0 420, 429, 432, 434, 572 ।

महाभारत में क्रोध का स्वरूप भी देखने को मिलता है। जब युधिष्ठिर द्वारा राजसूय यज्ञ किया गया तब उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण की अग्रपूजा की, तब शिशुपाल ने कृष्ण से आक्षेप पूर्ण वचन कहे। युधिष्ठिर के समझाने पर भी वह शान्त न हुआ तो पितामह भीष्म ने उसके आक्षेपों का उत्तर दिया किन्तु वह पुनः पितामह की निन्दाकर उनका अपमान करने लगा। तब भीमसेन के हृदय में क्रोधाग्नि जल उठी, वह कृष्ण तथा पितामह की निन्दा सहन न कर सके। उनकी आँखें लाल हो गयीं, मानों उनमें खून उतर आया हो। उनकी भृकुटि तन गयी। वे दांतों से दांत पीसने लगे, रोष की अधिकता से उनका मुख अत्यन्त भयंकर हो गया। वे शिशुपाल को मारना चाहते थे परन्तु पितामह ने उनका क्रोध शान्त किया।[1]

क्रोध के विषय में एक प्रसंग और भी है। जब अर्जुन द्वारिका में श्रीकृष्ण से मिलने आते हैं, तब वे उनकी बहिन सुभद्रा पर आसक्त हो जाते हैं। युधिष्ठिर व भगवान् कृष्ण की आज्ञा से अर्जुन सुभद्रा का हरण कर लेते हैं। तब बलराम अत्यधिक क्रोधित होते हैं। वे शीघ्र ही अर्जुन का वध करने के लिए तत्पर हो जाते हैं। तब श्रीकृष्ण उन्हें शान्त करते हैं।[2]

---

1. शिशुपालस्य वचन श्रुत्वा रूक्षं रूक्षाक्षरं बहु।
   चुकोप बलिनां श्रेष्ठो भीमसेनः प्रतापवान्।।
   भूयः क्रोधाभिताम्राक्षे रक्ते नेत्रे वभूवतुः।
   त्रिशिखां भ्रुकुटिं चास्य ददृशुः सर्वपार्थिवः।।
   दन्तान् संदशतस्तस्य कोपाद् दध्शुराननम्। महा0– 2/42/9,10,11,12
2. महा0– 1/219/26,27,28,29
   भा0सावि0– 164 ।

शरीर, मन, आत्मादि की नैतिक स्थिति

महाभारत महाकाव्य में सन्दर्भगत रूप शरीर, मन, आत्मा, की स्थिति का चित्रण किया गया है। इस मानवीय शरीर के विषय में कहा गया है कि जीवात्मा के सब शरीर नाशवान हैं। नित्य है तो बस आत्मा, वह अप्रमेय है, नाश रहित है। जैसे जीवात्मा के इस देह में बालकपन, युवास्था व वृद्धावस्था होती है, वैसे ही जीवात्मा को एक शरीर से दूसरा शरीर प्राप्त होता रहता है।[१]

आत्मा के विषय में महाभारत में वर्णित है– कि आत्मा न तो जन्म लेता है और न ही मरती है। ये नित्य सर्वव्यापी अचल स्थिर रहने वाली है। ये आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य, विकार रहित है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग नवीन वस्त्र धारण करता है वैसे जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर नवीन शरीर को धारण करता है।[२]

---

1. महा.–श्रीमद्.भा.गी.– 2/13, 18
   अन्तवन्तः इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
   अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।।
   देहिनोऽस्मिन्यथा देहेकौमारं यौवनः जरा।
   तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।
2. अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम विकार्योऽयमुच्यते।
   तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।
   वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्याति नरोऽपराणि।
   तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानिं देही।
   महा0– श्रीमद्. गीता– 2/22,23,24,26

एक अन्य विवरण में भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि ये भीष्मादि सभी गुरुजनों के शरीर मायामय होने से अनित्य हैं, इससे शरीरों के लिए शोक करना उचित नहीं हैं क्योंकि जन्म से पहले सभी प्राणी अप्रकट थे, और मृत्यु के पश्चात् पुनः अप्रकट हो जायेंगे। केवल बीच की स्थिति में ही वे प्रकट हैं, फिर ऐसी स्थिति ये शोक मत करो।[1]

यहाँ शरीर की नश्वरता को घोषित किया गया है।

---

1. अत्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
   अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।
   महा0– श्रीमद्0 गी0– 2/28 ।

चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ अध्याय

महाभारत का राजनैतिक तथा आर्थिक परिदृश्य

अ. शासक वर्ग।

ब. राजा व उसके गुण दोष।

स. राजा तथा प्रजा की नीति एवं आचारपरक स्वरूप।

द. आर्थिक परिदृश्य-जीवकोपार्जन के साधन।

य. कृषि, पशु, पालन उद्योगादि।

र. राजनैतिक तथा अर्थनीति का सामंजस्य।

चतुर्थ अध्याय

''महाभारत का राजनैतिक तथा आर्थिक परिदृश्य''

महाभारत का शासक वर्ग ::-

भारतीय शासकों की प्राचीन परम्परा में सूर्यवंशीय और चन्द्रवंशीय राजाओं का बड़ा महत्व रहा है और लगभग पूरे काल तक इन्हीं वंशों की परम्परा के राजाओं ने इस भूमि पर शासन किया। किन्तु महाभारत महाकाव्य में पुरुवंश, भरतवंश व पाण्डुवंश की परम्परा का वर्णन मिलता है।

महाभारत महाकाव्य में जब जनमेजय ने पुरुवंश में उत्पन्न राजाओं के विषय में प्रश्न किया तब वैशम्पायन ने पुरुवंश के राजाओं का वर्णन करते हुए कहा कि सर्वप्रथम दक्ष से अदिति, अदिति से विवस्वान, विवस्वान से मनु, मनु से इला, इला से पुरुरवा, पुरुरवा से आयु, आयु से नहुष और नहुष से ययाति उत्पन्न हुए। ययाति की दो पत्नियों देवयानी व शर्मिष्ठा हुईं।[1]

ययाति के देवयानी से यदु और तर्वसु दो पुत्र हुए तथा शर्मिष्ठा के द्रुह्यु, अनु-पुरू ये तीन पुत्र हुए, इसमें यदु से यादव और पुरु से पौरव हुए।[2]

---

1. दक्षाददितिरदितेर्विवस्वान् विवस्वतो मनुर्मनोरिला इलायाः पुरुरवाः पुरूरवस आयुरायुषो नहुषो नहुषाद् ययातिः, ययातेर्द्वे भार्ये बभूवतुः।। उशनसो दुहिता देवयानी वृषपर्वणश्च दुहिता शर्मिष्ठा नाम। महा.– 1/95/7, 8 भा. सावि.– पृ. 88–92
2. यदुं च तृर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत्।
द्रुह्युं चानुं च पुरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी।। महा.– 1/95/9

पुरूवंशीय राजाओं की इसी परम्परा में जनमेजय हुए जो पुरु के पुत्र थे। जनमेजय ने तीन अश्वमेघ यज्ञ का अनुष्ठान किया, और मधुवंश की कन्या अनन्ता से विवाह किया। उसके गर्भ से प्राचिन्वान् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने उदयाचल से लेकर प्राची दिशा को एक ही दिन में जीत लिया था। प्राचिन्वान् ने यदुकुल कन्या को पत्नी बनाया और संयाति नामक पुत्र हुआ। संयाति के अहंयाति नामक पुत्र हुआ, और अहंयाति के सार्वभौम नामक पुत्र हुआ। सार्वभौम ने युद्ध में जीतकर केकय कुमारी सुनन्दा का अपहरण कर पत्नी बनाया, उससे उन्हें जयत्सेन नामक पुत्र हुआ।[१]

ये वंश इसी क्रम से आगे बढ़ता गया और क्रमशः जयत्सेन से अवाचीन हुए, अवाचीन के पुत्र अरिह हुए, अरिह के पुत्र महाभौम, महाभौम के अयुतनायी हुए, जिन्होंने दस हजार पुरुष-मेध यज्ञ किये। यशस्वी अयुतनायी की पत्नी कामा को अक्रोधन नामक पुत्र हुआ। अक्रोधन को देवातिथि नामक पुत्र हुआ। देवातिथि के मर्यादा से विवाह के पश्चात् अरिह नामक पुत्र हुआ[२]।

---

1. पुरोस्तु जज्ञे जनमेजयो नाम यस्त्रीनश्वमध्यानाजहार, तेन् जये प्राचिन्वान् यः प्राचीं दिशं जिगाय यावत् सूर्योदयात। प्राचिन्वान् खल्वश्मकीमुपयेमे यादवीम्। तस्यामस्य जज्ञे संयातिः। संयातिः खलु दृषद्वतो दुहितरं वराङ्गीं नामोपयेमे। तस्यामस्य जज्ञे अहंयातिः। अहंयाति जज्ञे सार्वभौम, सार्वभौमस्य जज्ञे जयत्सेनो नाम्।
   महा.– 1/95/11–16
2. जयत्सेनस्य जज्ञे अवाचीनः, अवाचीनस्य जज्ञे अरिहः, अरिहस्य जज्ञे महाभौमः, महाभौमस्य जज्ञे अयुतनायीं, अयुतनाये जज्ञे अक्रोधनः अक्रोधनस्य जज्ञे देवातिथि। देवातिथेः जज्ञे अरिहो नाम। महा.– वही श्लोक– 17–28

पुरूवंश के अनेक यशस्वी राजाओं की कुल परम्परा में क्रमशः अरिह व उनकी पत्नी ने ऋक्ष नामक पुत्र को जन्म दिया। ऋक्ष ने तक्षक पुत्री ज्वाला को पत्नी बनाया व उनसे मतिनार हुए, मतिनार के पुत्र तंसु ने कलिंग राजकुमारी से विवाह कर ईलिन पुत्र को जन्म दिया।

ईलिन के दुष्यन्त आदि पांच पुत्र हुए, दुष्यन्त ने शकुन्तला से विवाह किया और भरत का जन्म हुआ।

यही से भरत वंश का आरम्भ है। भरत ने सर्वसेन की पुत्री सुनन्दा से विवाह किया और भुमन्यु नामक पुत्र प्राप्त किया। भुमन्यु व विजया के सुहोत्र पुत्र हुए। सुहोत्र ने सुवर्ण को पत्नी बनाया ,और उन्हें हस्ती पुत्र हुआ, जिसने यह हस्तिनापुर नगर बसाया था। हस्ती व यशोधरा (पत्नि) ने विकुण्ठन पुत्र को उत्पन्न किया। विकुण्ठन के अजमीढ़ नामक पुत्र हुआ।

अजमीढ़ के कैकेयी, गान्धारी, विशाला ऋक्षा से एक सौ चौबीस पुत्र हुए। इनमें राजा संवरण कुरुवंश के प्रवर्तक हुए।[1]

---

1. दुष्यन्तः खलु विश्वामित्रदुहितरं नामोर्पमये। तस्यामस्य जज्ञे भरतः।। ततोऽस्य भरतत्वम्। भरतः खलु काशेयीमुपयेमे सार्वसेनीं सनन्दां नाम। तस्यामस्य जज्ञे भुमन्युः।। भुमन्योः जज्ञे सुहोत्रः, सुहोत्रः खल्विक्ष्वाकुकन्यामुपयेमे सुवर्णो नाम। तस्यामस्य जज्ञे हस्तीः य इदं हस्तिनपुरं स्थापयामास। हस्ती खलु यशोधरां नाम। तस्यामस्य जज्ञे विकुण्ठनो नाम।। विकुण्ठनः खलु दाशार्हीमुपयेमे सुदेवां नाम तस्यामस्य जज्ञे अजमीढ़ो। अजमीढ़स्य चतुर्विंशं पुत्रशतं बभूव। तत्र वंशकरः संवरणः।। संवरणः खलु वैवस्वतीं तपतीं नामोपयेमे तस्यामस्य जज्ञे कुरूः। महा.– 1/95/29–38

कुरूवंश के प्रर्वतक संवरण व उनकी पत्नी तपती से कुरू का जन्म हुआ। ये परम्परा पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रही ओर कुरू ने शुभांगी से विवाह कर विदूर नामक पुत्र को प्राप्त किया। इसी प्रकार क्रम से विदूर के अनश्वा और अनुश्वा के परिक्षित, परिक्षित के भीमसेन, भीमसेन के प्रतिश्रवा और प्रतिश्रवा से प्रतीप हुए। राजा प्रतीप के तीन पुत्र हुए, देवापि-शान्तनु व वाह्नीक।

इनमें से शान्तनु राजा हुए, इन्होंने भागीरथी गंगा को पत्नी बनाया, व देवव्रत को प्राप्त किया। भीष्म (देवव्रत) ने अपने पिता का विवाह सत्यवती से किया। सत्यवती ने कन्यावस्था में महर्षि पाराशर से द्वैपायन व्यास को उत्पन्न किया। फिर उसी सत्यवती के शान्तनु से विचित्रवीर्य व चित्रांगद दो पुत्र हुये। विचित्रवीर्य ने अम्बिका व अम्बालिका से विवाह किया। विचित्रवीय संतानहीन ही स्वर्गवासी हो गये। अतः देवी सत्यवती ने वंश चलाने हेतु व्यास जो उनके पुत्र थे, उनसे संतान उत्पन्न करायी। व्यास जी के द्वारा धृतराष्ट्र, पाण्डु, विदुर उत्पन्न हुए।[1]

---

1. शान्तनुस्तु महींपालो वभूव। शान्तनु खलु गंगा भागीरथीमुपयेमे। तस्यामस्य जज्ञे देवव्रतो नाभ यमाहुर्भीस्ममिति। भीष्म खलु पितुः प्रियचिकीर्षया सत्यवर्ती मातरमुदवाहयत्। तस्यां पूर्वे कानीनो गर्भः पराशराद द्वैपायनोऽभवत।। तस्यामेव शान्तनोरन्यौ द्वौ पुत्रौ बभूवतुः। विचित्रवीर्यश्चित्रांगदश्च, विचीत्रवीर्यस्तु राजाऽसीत। विचित्रवीर्यः खलु अम्बिकाम्बालिके काशिराजदुहितरापुवपमेये।। विचित्रवीर्यस्त्वनपत्य एव विदेहत्वं प्राप्तः। ततः तीन पुत्रानुत्पादयामासः धृतराष्ट्रं पाण्डुं विदुरं चेति। महा.– 1/95/45, 55

कुरूवंश में ये क्रम परम्परा चलती रही। एक से एक प्रतापी व यशस्वी राजा जन्म लेते रहे। धृतराष्ट्र के गान्धारी से सौ पुत्र हुए। उनमें चार प्रधान थे दुःशासन, दुर्योधन, विकर्ण व चित्रसेन।

राजा पाण्डु की कुन्ती व माद्री दो पत्नियां थी, जिसमें कुन्ती ने धर्मराज से युधिष्ठिर, वायुदेव से भीमसेन, इन्द्र से अर्जुन को जन्म दिया। तथा देवी माद्री के गर्भ से अश्विनी कुमारों ने नकुल व सहदवे को उत्पन्न किया।[१]

कुरूवंश में पाण्डवों ने द्रौपदी को पत्नी रूप में प्राप्त किया, और उससे पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, को भीम से सुतसोम को, अर्जुन ने श्रुतकीर्ति, को नकुल ने शतानीक और सहदेव ने श्रुतकर्मा को पुत्र रूप में प्राप्त किया।[२]

---

1. कुन्ती तथोक्ता पुत्रानुत्पादयामास। धर्मादयुधिष्ठिर मारूताद भीमसेनं शक्रादर्जुनमिति।
   माद्रयामश्विभ्यां नकुलसहदेवावुत्पादितौ।। महा.– 1/95/61, 63
2. तत्र द्रौपदीं भार्यामबिन्दन्, कुशलिनः पुत्रांश्चोत्पादयामासुः।
   प्रतिविन्ध्यं युधिष्ठिरः, सुतसोमं वृकोदरः, श्रुतकीर्तिमर्जुनः,
   शतानीकं नकुलः, श्रुतकर्माणं सहदेवइति।

कुरूवंश में युधिष्ठिर द्वारा स्वयंवर में प्राप्त देविका से यौधेय नामक पुत्र प्राप्त किया। भीमसेन ने काशिराज पुत्री बलन्धरा से विवाह किया तथा सर्वग नामक पुत्र प्राप्त किया।

अर्जुन ने सुभद्रा से विवाह कर अभिमन्यु नामक पुत्र को प्राप्त किया। नकुल ने चेदिनरेश की पुत्री करेणुमती को पत्नी के रूप में प्राप्त कर, उसके गर्भ से निरमित्र पुत्र को प्राप्त किया।

सहदेव ने भद्रदेश की राजकुमारी विजया से सुहोत्र को प्राप्त किया। भीमसेन ने पहले ही हिडिम्बा के गर्भ से घटोत्कच नामक राक्षस जातीय पुत्र को उत्पन्न किया।[1]

इस प्रकार पाण्डवों के ग्यारह पुत्र हुए। इनमें अभिमन्यु का ही वंश चला।

---

1. युधिष्ठिरस्तु गोवासनस्य शैव्यस्य देविकांनाम कन्यां स्वयंवरे लेभे।
   तस्यां पुत्रं जनयामास यौधेयं नाम।
   भीमसेनोऽपि बलन्धरां नामोपयेमे वीर्यशुल्काम् तस्यां पुत्रं सर्वगं नामोत्पादयामास।
   अर्जुनः द्वारवतीं गत्वा भगिनीं वासुदेवस्य सुभद्रां भार्यामुदावहत्।
   तस्यांपुत्रम्भिमन्युमतीव गुणसम्पन्नं दयितं।
   नकुलस्तु चैधां करेणुमतीं नाम भार्यामुदावहतातस्यां पुत्रं निरमित्रं नामाजनयत।।
   सहदेवो भाद्रीमेव स्वयंवरे विजयां नामोपयेमे।
   तस्यां पुत्रमजनयत् सुहोत्रं नाम।।
   भीमसेनस्तु पूर्वमेव हिडिम्बायां राक्षसं घटोत्कचं पुत्रमुत्पादयामास।
   महा0– 1/95/76–82 ।

अभिमन्यु का वंश उनके पुत्र परीक्षित ने आगे बढ़ाया, परीक्षित ने माद्रवती से विवाह करके जनमेजय पुत्र को उत्पन्न किया।

वैशम्पायन ने जनमेजय से कहा कि तुम्हारी पत्नी वपुष्टमा के दो पुत्र हुए। शतानीक व शङ्कुकर्ण। शतानीक की पत्नी विदेहराजकुमारी के गर्भ से उत्पन्न हुए पुत्र का नाम अश्वमेघदत्त है।[1]

ये सम्पूर्ण पुरु व पाण्डवों के वंश का वर्णन है। ये सभी राजा, प्रजापालक, वीर, नियमपरायण थे।

---

1. स विराटस्य दुहितरमुपयेमे उत्तरां नाम।
तस्यामस्य परासुर्गभेऽभवत्। सः परिक्षीगे कुले जातो भवत्वयं परिक्षिन्नामेति।
परीक्षित खलु भाद्रवतीं नामोपयेमे त्वन्मातरम् तस्यां भवान् जनमेजयः।
भवतो वपुष्टमायां द्वौ पुत्रौ जज्ञाते शतानीकः शंकुकर्णश्च।
शतानीकस्य वैदेह्यां पुत्र उपन्नोऽश्वमेध दत्त इति।
महा0– 1/95/ 83–86।

"राजा और उसके गुण-दोष"

महाभारत महाकाव्य में राजा व उसके गुण-दोष के अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं। एक स्थान पर पितामह ने युधिष्ठिर के लिए राजा को इहलोक और परलोक में सुख प्राप्ति कराने वाले छत्तीस गुणों का वर्णन किया। उन्होंने उपदेश दिया कि एक श्रेष्ठ राजा को सदैव धर्म का आचरण करना चाहिऐ, आस्तिक रहते हुए सभी प्रेम का व्यवहार करे, क्रूरता के बिना धन का संचय करे और मर्यादा को त्यागे बिना ही विषय भोगे।[1]

राजा दुष्टों के साथ मेल न करे। बन्धुओं से झगड़ा न करें, जो राजभक्त न हों ऐसे गुप्तचर से काम न लें। किसी को कष्ट न पहुँचाय बिना ही अपना कार्य करे।[2]

अपराध की अच्छी तरह जाँच-पड़ताल किये बिना किसी को दण्ड न दें, गुप्त मन्त्रणा को प्रकट न करे, लोभियों को धन न दे,। जिन्होंने अपकार किया हो, उन पर विश्वास न करे।[3]

---

1. चरेद् धर्मानकटुको मुञ्चेत् स्नेहं न चास्तिकः।
   अनृशंसश्चरेदर्थं चरेत् काममनुद्धतः।।
2. संदधीत न चानार्यैर्विगृहीयान्न बन्धुभिः।
   नाभक्तं चारयेच्चारं कुर्यात् कार्यमपीडया।।
3. नापरीक्ष्य नयेद् दण्डं न च मन्त्रं प्रकाशयेत्।
   विसृजेन्न च लुब्धेभ्यो विश्वसेन्नापकारिषु।।
   महा.– 12/70/3, 57 भा. सावि. पृ.– 646

पितामह युधिष्ठिर को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि राजा को सदैव माननीय पुरुषों का सम्मान करना चाहिए। निष्कपट भाव से गुरूजनों की सेवा करनी चाहिए। अहंकार से रहित होकर ईश्वर की पूजा करें। अनिन्दित उपाय से धन सम्पत्ति पाने की इच्छा करें। बिना जाने किसी पर प्रहार न करे, शत्रुओं को मारकर शोक न करे। अकस्मात् किसी पर क्रोध न करे तथा अपकार करने वालों के लिए कोमल न हो।[1]

पितामह भीष्म ने धर्मपूर्वक प्रजा का पालन ही राजा का महान धर्म बताया है और कहा है कि जो राजा आलस्य रहित होकर, रागद्वेष का परित्याग कर, प्रजा की रक्षा करता है, दान देता है तथा निरन्तर धर्म एवं न्याय में तत्पर रहता है, उसके प्रति प्रजावर्ग के सभी लोग अनुरक्त रहते है। जो राजा प्रजा का धर्मपूर्वक पालन करता है, सभी प्राणियों की रक्षा व उनके प्रति धर्म व दया का भाव रखता है, उसका फल वह दस हजार वर्षों तक स्वर्ग में रहकर भोगता है।[2]

---

1. अस्तब्धः पूजयेन्मान्यान् गुरून् सेवेदमायया।
   अर्चेद देवानदम्भेन् श्रियामिच्छेदकुत्सिताम्।।
   सेवेत् प्रणयं हित्वा दक्षः स्यान्न त्वकालवित्।
   सान्त्वयेन्न च मोक्षाय अनुगृहन्न चाक्षिपेत्।।   महा.– 12/70/ 9,11
2. गोपायितारं दातारं धर्मनित्यमतीन्द्रतम्।
   अकामद्वेष संयुक्तमनुरज्यन्ति मानवाः।।
   एष एव परो धर्मो यद् राजा रक्षति प्रजाः।
   भूतानां हि यथा धर्मो रक्षणं परमा दया।।
   दस वर्ष सहस्त्राणि तस्य भुक्ते फलं दिवि।   महा.– 12/71/12, 26, 29

पितामह भीष्म ने युधिष्ठिर से राजाओं के गुणों का उल्लेख करते हुए कहा कि राजा को चाहिए कि वह शत्रुओं को यमराज की भाँति सदा दण्ड देने के लिए उद्यत रहे। समस्त प्रजा का धर्मपूर्वक पालन करे। सभी धर्मात्मा पुरुषों का सत्कार और उत्तम वस्तुएँ देकर उनका सम्मान करना चाहिए।[1]

महाभारत महाकाव्य में ऐसे राजाओं की संख्या अनन्त है जो परम धार्मिक, सत्यपालक तथा प्रजा के प्रति सद्व्यवहार करने वाले है। ये शास्त्र, मर्यादा के अनुरूप ही आचरण करते हैं तथा ब्राह्मण, विद्वान और तपस्वी का कभी भी अनादर नहीं करते।

---

1. नित्यमुद्यतदण्डश्च भवेन्मृत्युरिवारिषु।
   सर्वाश्चैव प्रजा नित्यं राजा धर्मेण पालयन्।।
   उत्थानेन प्रदानेन् पूजयेच्चापि धार्मिकान्।
   महा.– 12/75/3, 5

सर्वश्रेष्ठ राजाओं के प्रसंग में राजा सुहोत्र का प्रसंग भी आता है। राजा सुहोत्र अद्वितीय वीर राजा थे, उन्होंने धर्म के अनुसार राज्य पाकर ऋृत्विजों, ब्राह्मणों और पुरोहितों का सदा सम्मान किया, प्रजापालन, धर्म, दान, यज्ञ और शत्रुओं पर विजय पाना, इन सबको राजा सुहोत्र ने अपने लिए श्रेयस्कर जानकर धर्म के द्वारा ही धन पाने की अभिलाषा की।

राजा सुहोत्र ने अनेक विशाल यज्ञ किये और उस यज्ञ में अपनी अनन्त सुवर्णराशि ब्राह्मणों को बाँट दी। वे अत्यधिक दानवीर राजा हुए।[१]

---

1. यः प्राप्य राज्यं धर्मेण ऋत्विग्ब्रह्मपुरोहितान्।
   प्रजानां पालनं धर्मो दानमिज्या द्विषज्जयः।
   एतत् सुहोत्रो विज्ञाय धर्मेणैच्छद् धनागमम्।।

   सोअश्वमेधसहस्त्रेण राजसूयशतेन् च।
   पुण्यैः क्षत्रिययज्ञैश्च प्रभूतवरदक्षिणैः।।
   तत सुवर्णमपर्यन्तं राजर्षिः कुरूजाङ्गले।
   ईजोनो वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्या ह्यमन्यत्।।

   महा.– 7/56/ 2,3,9,10
   भा. सावि.– पृ. 557

ऐसे ही महाकाव्य में रामोपाख्यान के अन्तर्गत भगवान श्री राम का चरित्र भी सर्वश्रेष्ठ राजाओं में अग्रगण्य है। उन्होंने धर्मपूर्वक प्रजा का पालन किया। उनके राज्य में सारी प्रजा निरन्तर आनन्दमग्य रहती थी। वे अत्यन्त तेजस्वी और असंख्य गुणों से युक्त थे, मर्यादा से कभी च्युत न होने वाले लक्ष्मण के बड़े भाई श्रीराम ने पिता की आज्ञा से चौदह वर्ष अपनी पत्नी व भाई के साथ वन में व्यतीत किए।

भगवान श्रीराम ने तपस्वी व मुनियों की रक्षा के लिए चौदह हजार राक्षसों का वध किया। वहीं पुलत्स्य वंश के राक्षसों को, जिन्होंने देवी सीता का हरण किया था, श्रीराम ने मारकर अपने प्रधान अपराधी घोर मायावी रावण को, जो दूसरे राजाओं द्वारा कभी जीता नहीं गया था। युद्ध भूमि में मार गिराया।

भगवान श्रीराम ने अपने गुरूजनों का सदा आदर कर उनकी आज्ञा का पालन किया, ब्राह्मणों की सेवा की, उन्हें दान दिया, प्रजा का धर्म पूर्वक पालन किया, सभी प्राणियों की रक्षा की। उनके राज्य में कहीं भी चोर, नाना प्रकार के रोग और भाँति-भाँति के उपद्रव नहीं थे। सारा जगत सुख से सम्पन्न व प्रसन्न था, सभी लोग बहुत सुखी थे।[1]

---

1. असंख्येयया गुणा यस्मिन्नासन्नमिततेजसि।
   यतश्चतुर्दश वर्षाणि निदेशात् पितरच्युतः।।
   जघान च जन स्थाने राक्षसान् मनुजर्षभः।
   तपस्विनां रक्षणार्थे सहस्त्राणि चतुर्दश।। महा.– 7/59/2,3

   तत्र हत्वा तु पौलत्स्यान् ससुहृद्रबान्धवान्।
   मायाविनं महाघोरं रावणं लोककण्टकम्।।
   सर्वे प्रसन्नमेवासीदत्यन्त सुखसंयुतम्।
   एवं लोकोऽभवत् सर्वो रामे राज्यं प्रशासति।। महा.– 7/59/ 5, 20

राजाओं के गुणों के सन्दर्भ में राजा उशीनर का उल्लेख भी महाभारत महाकाव्य में प्राप्त होता है। राजा उशीनर ने अपनी शरण में आये हुए कबूतर की रक्षा के लिए अपने शरीर का मांस दे दिया और कबूतर का मांस चाहने वाले बाज को संतुष्ट कर अपने धर्म का पालन किया।

राजा का धर्म होता है कि शरण में आये हुए की रक्षा करना राजा ने कबूतर की रक्षा की और बाज का अपना मांस देकर अपने अद्वितीय धर्म का भी पालन किया।[1]

एक अन्य सन्दर्भ में संन्यास लेने के लिए इच्छुक युधिष्ठिर को श्रीकृष्ण राजा हयग्रीव की कथा सुनाते हैं। राजा हयग्रीव अत्यधिक शूरवीर और अनायास ही महान कर्म करने वाले थे। उन्होंने सदैव प्रजा का पालन किया। उन्होंने युद्ध में शत्रुओं को मार गिराया था, किन्तु डाकुओं ने उन्हें अस्त्र से छिन्न-भिन्न करके मार डाला था। राजा हयग्रीव अत्यन्त धार्मिक, नीतिपालक, विद्वान, त्यागी, कृतज्ञ राजा हुए।[2]

---

1. संत्रस्तरूपस्त्राणार्थी त्वत्तो भीतो महाद्विज।
   मत्सकाशमनु प्राप्तः प्राणग्रहनुरयं द्विजः।।
   एवमभ्यागतस्येह कपोतस्याभयार्थिनः।
   अनुग्रहमिमं मन्ये श्येन यन्याभियाचसे।
   तस्मात् तेऽद्य प्रदास्यामि स्वमांसं तुलया धृतम्।
   महा0– 3/131/3,4,25
2. शत्रूनहत्वा हतस्याजौ शूरस्याक्लिष्टकर्मणः।
   असहायस्य संग्रामे निर्जितस्य युधिष्ठिर।।
   महा0–12/24/24

वे राजा ह्यग्रीव ने प्रजा की रक्षा के लिए अपने प्राण त्याग दिए, प्रजा पालन के लिए उन्होंने युद्ध किये। वे अनेक यज्ञों का अनुष्ठान करने वाले थे। वे श्रेष्ठ ब्राह्मणों को दक्षिणा आदि से तृप्त करके युक्ति से प्रजाजनों की रक्षा के लिए दण्ड धारणा करते हुए युद्ध में मारे गए और अन्त में स्वर्ग लोक प्राप्त किया।[1]

महाभारत महाकाव्य में राजाओं के दोष के सम्बन्ध में राजा परीक्षित का चरित्र भी परिलक्षित होता है।

राजा परीक्षित जो धर्म के ज्ञाता ही नहीं अपितु धर्म के साक्षात् स्वरूप थे। वे अत्याधिक पराक्रमी, सत्यवादी व लक्ष्मीवान् थे। वे राजनीति व अर्थनीति में अत्याधिक निपुण थे। उन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियों को वश में कर रखा था तथा काम, क्रोध, लोभ मोह, मद और मात्सर्य इन छैः शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली थी। अन्होंने साठ वर्ष तक प्रजा का धर्म पूवर्क पालन किया। इन सभी सद्‌गुणों से युक्त होने पर भी उन्होंने एक अपराध कर दिया था, जो उनकी मृत्यु का कारण बना।

---

1. जित्वा संग्रामान् पालयित्वा प्रजाश्च।
   सोमं पीत्वा तर्पयित्वा द्विजाग्यान्।
   युक्त्या दण्डं धारयित्वा प्रजानां।
   युद्धे क्षीणो मोदते देवलोके ।।
   महा0– 12/24/33

एक बार वे शिकार के लिए वन में गये, और एक शिकार के पीछे-पीछे गहन वन में चले गये। वन में घूमते-घूमते उन्हें भूख सताने लगी। इसी दशा में महाराज ने मुनिश्रेष्ठ शर्मीक को देखा और उनसे मृग का पता पूछा, मुनि मौन व्रत होने के कारण कुछ न बोले, महाराज परीक्षित ने क्रोधित होकर धनुष की नोंक से जमीन पर मृत सर्प को उठाकर उन महर्षि के कंधे पर डालकर उनका तिरस्कार कर दिया। किन्तु मुनि ने कुछ भी नहीं कहा। ये बात जब मुनिपुत्र श्रृङ्गी को पता चली तो वह बहुत क्रोधित हुआ और उसने राजा परीक्षित को शाप दे दिया कि आज से सात रात्रि के बाद मेरी वाक् शक्ति से प्रेरित प्रचण्ड तेजस्वी विषधर तक्षक नाग कुपित हो अपनी विषाग्नि से जला देगा। इस प्रकार परीक्षित जैसे धर्मज्ञ और विचारवान् राजा में भी दोष था।[9]

---

1. चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मस्थं स कृत्वा पर्यरक्षत्। धर्मतो धर्मविद् राजा धर्मो विग्रह पानिव।।8।
जितेन्द्रियश्चात्मवांश्च मेधावी धर्मसेविता। षडवर्ग जिन्महाबुद्धि नीतिशास्त्र विदुत्तमः।। 16।
प्रजा इमास्तव पिता षष्टिवर्षाण्यपालयत्। ततो दिष्टान्त मापन्नः सर्वेषां दुःखमावहन्।। 17।
स कदाचित् वनगतो मृगं विव्याघ्र पत्रिणा। विद्ध्वा चान्वसरत् तूर्णे तं मृगं गहने वने।। 24।
परिश्रान्तो वयःस्पश्च षष्टिवर्षो जरान्वितः। क्षुधितः स महारण्ये ददर्श मुनिसप्तमम्।। 26।
ततो राजाक्षुच्छमार्तस्तं मुनिं स्थाणुवत् स्थितम्। मौनव्रतधरं शान्तं सद्यो मन्युवशं गतः।। 29।
मृतं सर्पधनुकोष्टया समुत्क्षिप्य धरातलात्। तस्य शुद्धात्मनः प्रादात् स्कन्धे भरतसत्तम्।।30।
महा.-1/49/8,16,17,24,26,28,30
अनागसि गुरौ यो मे मृतं सर्पमवासृजत्। तं नागस्तक्षकः क्रुद्धस्तेजसा प्रदहिष्याति।।
आशीविषस्तिग्मतेजा मद्वाक्यबलचोदितः। सत्तरात्रादितः पापं पश्य में तपसो बलम्।। महा0- 1/50/11,12

राजाओं के जीवन व्यवहार में एक राजा ऐसा भी है जो एक स्त्री के कहने पर उसके साथ समागम करते हैं, यहाँ इस राजा की अतृप्त कामना रूप दुर्गुण सामने आता है।

राजा ययाति अपनी पत्नी की सखी शर्मिष्ठा से सन्तानोत्पत्ति हेतु सम्बन्ध स्थापित किया। जब ये बात उनकी पत्नि देवयानी को ज्ञात हुई तो वह क्रोधित होकर अपने पिता शुक्राचार्य के पास चलीं गयी।

शुक्राचार्य ने पूरी बात जानकर राजा के द्वारा मर्यादा का उल्लंघन करने पर तथा धर्म को जानते हुए भी अधर्म का आचरण करने के कारण उन्हें शाप देते हुए कहा कि जिसको जीतना कठिन है, वह वृद्धावस्था तुम्हें शीघ्र प्राप्त होगी। शाप के अनुसार राजा वृद्ध हो गये तथा तब उन्होंने चिन्तित होकर अपने पुत्र से युवावस्था प्राप्त की और सांसारिक भोगों में प्रवृत्त हुए। यह राजा का एक बड़ा दुर्गुण प्रकट होता है।[1]

---

1. अधर्मात् पाहि मां राजन् धर्मे च प्रतिपादय।
   त्वत्तोऽपत्यवती लोके चरेयं धर्ममुत्तमम्।। महा0–1/82/21
   धर्मज्ञ इति विख्यात एष राजा भृगूद्वह।
   अतिक्रान्तश्च मर्यादां काव्यैतत् कथयाामि ते।
   धर्मज्ञः सन् महाराज योऽधर्ममकृथाः प्रियम्।
   तस्माज्जरा त्वाम् चिराद् धर्षयिष्यति दुर्जया।।
   महा0– 1/83/30,31
   भा0 सावि0– पृ0 78

ऐसे ही अन्याय करने वाले राजाओं का उल्लेख भी महाभारत में प्राप्त होता है। मगध के राजा बृहद्रथ का पुत्र जरासंध जो बड़ा पराक्रमी एवं वीर था। वह पृथ्वी निवासियों, व क्षत्रिय राजाओं को युद्ध में पराजित करके भगवान् शिव पर उनकी बलि चढ़ाता था। सम्पूर्ण पृथ्वी के छियासी प्रतिशत राजा उसकी कैद में बन्दी थे।

वह अपने ही वर्ण के क्षत्रिय राजाओं की, निर्दयता पूर्वक पशुओं की भांति उनकी बलि चढ़ाता था। सम्पूर्ण प्रजा उसके इस क्रूरता पूर्ण व्यवहार से दुखी थी। उस राजा जरासंध का वध भगवान् श्री कृष्ण की प्रेरणा से भीमसेन ने किया।[1]

महाभारत में अनेक राजाओं का उल्लेख मिलता है जिन्होंने मर्यादा के अनुरूप आचरण किया प्रजा का धर्म पूर्वक पालन किया किन्तु फिर भी उनका एक दोष उनके सारे पुण्य फलों का हरण कर लेता है।

---

1. प्रोक्षितानां प्रमृष्टानां राज्ञां पशुपतेर्गृहे।
   पशूनामिव का प्रीतिर्जीविते भरतर्षभ।।
   पडशीतिः समानीतः शेषा राजंश्चतुर्दश।
   जरासंधेन राजानस्ततः क्रूरं प्रवर्त्स्यते।।
   महा0– 2/15/22,24
   भा0सावि0– पृ0 143,147

ऐसे ही राजा नहुष का प्रसंग महाभारत में मिलता है। राजा नहुष जिन्होंने अनेक यज्ञ किये, स्वाध्याय किया तथा अपने मन और इन्द्रिय संयम रूप योग किया, अपने सत्कर्मों से उन्होंने त्रिलोक का साम्राज्य प्राप्त किया।

जब वे स्वर्ग के राजा थे, तो दिव्य विमान पर आरूढ़ होकर आकाश में विचरण करते थे। धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य के मोह में राजा नहुष अहंकारी हो गये। उन्होंने ब्रह्मर्षि, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नाग आदि जो भी इस त्रिलोक के प्राणी थे, उन सभी से कर लेना प्रारम्भ कर दिया।

उन्होंने अपने ऐश्वर्य के अहंकार में अनेक ब्राह्मणों को अपमानित किया। वे ब्राह्मणों के द्वारा अपनी पालकी को ढुलवाते तथा उन पर अत्याचार करते थे।

एक बार स्वर्ग-लोक में जब महर्षि अगस्त राजा नहुष की पालकी ढो रहे थे तब वे राजा ने उन्हें लात मार दी तभी महर्षि ने उन्हें शाप दिया कि तू निश्चय ही सर्प हो जा।

इस प्रकार राजा अपने अहंकार के वशीभूत सर्पयोनि में गिर गये[1]।

---

1. क्रतुभिस्तपसा चैव स्वाध्यायेन् दमेन् च।
   त्रैलोक्यैश्वर्यमव्यग्रं प्राप्तोऽहं विक्रमणे च।।
   ऐश्वर्यमद्मत्तोऽह्म्म्वमन्य ततो द्विजान्।
   इमामगस्प्येन् दशामानीतः प्रथिवीपते।। महा0– 3/180/12,14
   ब्रह्मर्षिदेवगन्धर्वयक्षराक्षस पन्नगाः।
   करान् मम् प्रयच्छन्ति सर्वे त्रैलोक्यवासिनः।।
   तत्र ह्यगस्त्यः पादेन वहन् स्पृष्टो मया मुनिः।
   अगस्त्येन ततोऽस्म्युक्तः सर्पस्त्वं च भवेतिह।। महा0 3/181/34,37
   महा0सावि0– पृ0 267,268

महाभारत के एक प्रसंग में राजा कार्तवीर्य व उनके पुत्र अजुन का दोष भी दृष्टिगत होता है। एक बार अनूप देश के राजा जो अत्यन्त वीर व पराक्रमी थे, उन्होंने जमदग्नि ऋषि के आश्रम पर जाकर आश्रम को तहस-नहस कर दिया, तथा कामधेनु के बछड़े को बलपूर्वक हर लिया। तब जमदग्नि पुत्र परशुराम ने उन राजा पर आक्रमण कर उनकी भुजाओं को काट डाला। अपने पराक्रम से परशुराम जी ने उस राजा का वध कर दिया। तब कार्तवीर्य के पुत्र अर्जुन परशुराम जी पर कुपित हो गये और परशुराम जी की अनुपस्थिति में, जब आश्रम पर केबल जमदग्नि ही थे तब उन्हीं पर चढ़ गये।

महर्षि जमदग्नि शक्तिशाली थे किन्तु तपस्वी होने के कारण वे युद्ध में प्रवृत्त नहीं हुए। तब अर्जुन ने उन्हें बाणों से प्रहार करके मार डाला। जब परशुराम जी को ये ज्ञात हुआ तो क्रोधित होकर उन्होंने सम्पूर्ण क्षत्रियों का वध कर दिया।[1]

---

1. प्रमथ्य चाश्रमात् तस्माद्धोमधेनोस्तथा बलात्।
जहार वत्सं क्रोशन्त्या बभञ्ज च महाद्रुमान्।।
स मृत्युवशमापन्नं कार्तवीर्यमुपाद्रवत्।
तस्याथ युधि विक्रम्य भार्गवः परवीरहा।।
आश्रमस्थं बिना रामं जगदग्निमुपाद्रवन्।
ते तं जहनुर्महावीर्यमयुहयन्तं तपस्विनम्।
असकृद् रामरामेति विक्रेशन्तमनाथवत।
कार्तवीर्यस्य पुत्रास्तु जमदग्निं युधिष्ठिर।।
महा.– 3/116/21,23,26,27

राजा तथा प्रजा का नीति एवं आचारपरक स्वरूप

प्राचीन भारत की व्यवस्था में समाज में दो ही ध्रुव थे। एक शासक के रूप में राजा और शासित के रूप में प्रजा। इसमें भी वही स्थिति थी जिसके अनुरूप ये कहा जा सकता है कि कुछ दुष्ट प्रवृत्ति के शासकों को छोड़कर राजा और प्रजा का सम्बन्ध पूरी तरह से उनके आचार व्यवहार और नैतिक मानदण्डों पर आधारित था।

'यद्यादाचरति श्रेष्ठत्तत्तदेवेतरोजन के अनुसार जो राजा अपने श्रेष्ठ आचरण से आदर्श प्रस्तुत करता था, प्रजा भी वही करती थी।

राजा भी इस रूप में आदर्श राजा होते थे क्योंकि वे अपने जीवन में कोई भी ऐसा कार्य नहीं करते थे जिससे प्रजा कुपथगामिनी हो जाये।

इस रूप में हम राजा परीक्षित, राजा दुष्यन्त, हरिश्चन्द्र, बलि, भगवान् राम युधिष्ठिर आदि का उदाहरण, उनके श्रेष्ठ आचरणों और नैतिक मानदण्ड़ों के लिए कर सकते हैं।

पुरुवंश के राजा दुष्यन्त भी सत्य, न्याय, धर्म और प्रजापालक के लिए ख्यात हैं। उन्होंने अपने शासन काल में प्रजा का धर्मपूर्वक पालन किया। वे पृथ्वी के चारों भागों का तथा समुद्र से आवृत सम्पूर्ण देशों का भी पूर्ण रूप से पालन करते थे। वे अकेले ही सम्पूर्ण पृथ्वी का शासन व संरक्षण करते थे। सब वर्ण के लोग अपने-अपने धर्म के पालन में रत रहते थे। राजा दुष्यन्त का आश्रय लेकर समस्त प्रजा निर्भय हो गयी थी।

उनके शासन में कोई मनुष्य वर्णशंकर सन्तान उत्पन्न नहीं करता था पृथ्वी बिना जोते ही अनाज पैदा करती थी। समस्त प्रजा सुखी निरोगी थी। राजा दुष्यन्त के राज्य में न्याय व्यवस्था उत्तम थी।[1]

यहाँ राजा की न्याय व सत्य की प्रवृत्ति तथा प्रजा के प्रति नैतिक सम्बन्ध में स्थिरता दृष्टिगत होती है।

---

1. पौरवाणां वंशकरो दुष्यन्तो नाम वीर्यवान्। पृथिव्याश्चतुरन्ताया गोप्ता भरतसत्तम्।।
   चतुर्भागं भुवः कृत्स्नं यो भुडक्ते मनुजेश्वरः समुद्रावरणांश्चापि देशान् स समितिंजयः।।
   स्वधर्मे रेमिरे वर्णा दैवे कर्मणि निःस्पृहा।
   तमाश्रित्य महीपालभासंश्चैवाकुतोमयाः।।
   महा0– 1/68/ 3,4,9 भ0सावि0– पृ0 68

महाराज युधिष्ठिर का भी चरित्र श्रेष्ठ राजाओं में अग्रगण्य है, उनका दूसरा नाम ही धर्मराज था क्यों कि धर्म की स्थापना और उसकी रक्षा के लिए उन्होंने अपने जीवन में अनेक कष्ट सहे। वे कभी भी अन्याय के पथ पर नहीं चले। जबकि भीम, अर्जुन जैसे दिग्विजयी योद्धा उनके साथ थे। यह उनका प्रजा के लिए परम नैतिक आधार था।

महाराज युधिष्ठिर के शासन में प्रजा में कोई अधर्मयुक्त कार्य नहीं होता था। सभी धर्मविषयक रुचि रखते थे। पुरुषसिंह! जैसे सतयुग में समस्त प्रजा धर्मपरायण रहती थी, उसी प्रकार उस समय द्वापर में भी हो गयी थी।[१]

धर्म के आसन पर बैठे हुए युधिष्ठिर सत्पुरुषों, स्त्रियों, बालकों व बूढ़ों तथा पूर्वनिर्मित वर्णाश्रम धर्मों की रक्षा के लिए सदा उद्यत रहते थे। वे जीविकाहीन मनुष्यों को जीविका देते थे, यज्ञ के लिए धन दिलाते तथा अन्याय उपायों द्वारा प्रजा की रक्षा करते थे। उनके शासनकाल में सारा जगत् स्वर्गलोक के समान सुन्दर हो गया था।[२]

सभी स्त्री पुरुष अपने धर्म में अनुरक्त व सुखी थे और सूक्ष्म से सूक्ष्म पाप भी नहीं करते थे।

---

1. नाद्यर्म्यमभवत तत्र सर्वो धर्मरूचिर्जनः।
   वभूव नरशाईल यथा कृतयुगे तथा।।
   महा0– 14/14/18
2. धर्मासनस्थः सभ्दिः स स्त्रीवालातुरवृद्धकान्।
   वर्णाश्रमान् पूर्वकृतान् सकलान् रक्षणोद्यंतः।।
   अवृत्ति वृत्तिदानाधैर्यज्ञार्थैदीर्पितैरपि।
   आमुष्मिकं भयं नास्ति एहीकं कृतमेव तु।।
   स्वर्गलोकोपमो लोकस्तद् तस्मिन् प्रशासति। महा.– 14/14/22, 23

महाभारत महाकाव्य में ऐसे राजाओं की संख्या बहुत कम हैं, जिन्होंने सत्य, न्याय, धर्म के मार्ग पर चलते हुए प्रजा का पालन किया। प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट नहीं दिया। नीति व आचार का पालन करते हुए शासन किया।

पाण्डु वंश के राजा परीक्षित भी सत्य, न्याय, धर्म और प्रजापालन के लिए विख्यात है, यद्यपि काल वश उनसे एक अनैतिक कार्य हो गया था, जिसमें उन्होंने स्वयं को अपमानित मान कर एक ऋषि के गले में सर्प डाल दिया था।

वे राजा परीक्षित बड़े धर्मात्मा, महात्मा और प्रजापालक थे। ब्रह्मा जी के समान वे समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखते थे। महाराज विधवाओं, अनाथों, अंगहीनों और दीनों का भी भरण पोषण करते थे।[1]

---

1. धर्मात्मा च महात्मा च प्रजापालकः पिता तव।
   समः सर्वेषु भूतेषु प्रजापतिरिवाभवत्।।
   स्थिताः सुमनसो राजस्तेन् राज्ञा स्वधिष्ठाता।
   विधवानाथविकलान् कृपणांश्च बभार सः।।
   महा.– 1/49/7, 10,11

ऐसे ही पितामह भीष्म थे, यद्यपि उन्होंने कभी भी राजा न बनने की प्रतिज्ञा ली थी, किन्तु विचित्रवीर्य की मृत्यु के पश्चात् जब कुरू देश की प्रजा बिना राजा के अनाथ सी हो गई तब पितामह के धर्म पूर्ण शासन से कुरूदेश की सर्वांगीण उन्नति हुई।

पितामह के द्वारा सब ओर से धर्मपूर्वक सुरक्षित भूमण्डल में कुरू देश सैकड़ों देवस्थानों और यज्ञस्तम्भों से चिन्हित होने के कारण बहुत शोभा पाता था। उस समय की प्रजा सत्यव्रत के पालन में तत्पर हो स्वभावतः धर्मकार्यों में संलग्न रहती थी।[१]

पितामह भीष्म ने भी बिना किसी राजसिंहासन के लोभ के कुरू राज्य का संचालन किया, कभी भी राजसी वैभव, ऐश्वर्य राज्य की सम्पत्ति का उन्होंने दुरूपयोग नहीं किया। धृतराष्ट्र को राजा बनाकर स्वयं उसका मार्गदर्शन करने वाले गुरू की भांति सदैव अपने कर्तव्य व अपने धर्म का पालन करते हुए इच्छित मृत्यु को प्राप्त हुए।

---

1. भीष्मेण धर्मतोराजन सर्वतः परिरक्षते।
   वभूव रमणीयश्च चैत्ययूपश्चताङ्कितः।।

   धर्मक्रिया यज्ञशीलाः सत्यव्रतपरायणाः।
   अन्योन्यप्रीतिसंयुक्ता व्यवर्धन्ते प्रजास्तदा।।
   महा.– 1/108/6, 13
   कृष्णं वन्दे जगत् गुरूम्– पृ. 115, 120

आर्थिक परिदृश्य-जीवकोपार्जन के साधनः:-

मनुष्य जीवन के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय की कल्पना प्राचीन समय से ही इस देश में की जाती रही है क्योंकि इनका कथन मनुष्य के वर्तमान जीवन की सुचिता तथा पारमार्थिक श्रेय की प्राप्ति के लिए भी किया गया है। इसलिए इनका व्यवहार बड़ा ही संयमित तथा नैतिक रहा है। यही कारण है कि प्रचीन काल में जीविका के निर्वाह के जो साधन थे वे सभी नैतिक आधार पर ही मान्य थे और उन्हीं पर चलकर व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति तय करता था।

तब के समय में मुख्य रूप से अर्थ-व्यवस्था का आधार भूमि ही थी। अचल सम्पत्ति के रूप में तब भूमि की ही गणना की जाती थी। भूमि को क्षेत्र के रूप में कहा जाता था और उसे कृषि योग्य बनाकर समय पर उसमें बीज वपन किया जाता था। जो भूमि कृषि योग्य थी उसे रिवल्य कहते थे।[१]

अथर्ववेद में पृथिवी सूक्त में पृथ्वी की महत्ता का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि यह भूमि समुद्र, नदियों और जल से सम्पन्न है। इस भमि में कर्षण करने से अन्न उत्पन्न होता है। इसी सूक्त में वह ऋषि से कामना करता है कि यह भूमि कर्षण करने पर हमें अन्न दे और इसी के साथ-साथ यह हमें गो सम्पत्ति से भी परिपूर्ण करे।[३]

---

1. ऋक्.-10/33/6, 1/110/5
2. वही- 4/6/48
3. यस्यां समुद्र उतसिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टया सम्भूवुः।
   यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्णपेयें दधातु।।
   याविभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु।
   अथर्व.-(2) पृ0 634

अन्न की महत्ता तो सर्वविदित है उल्लिखित सन्दर्भ में भी गो पशु के साथ अन्न की प्राप्ति की प्रार्थना से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्न तब एक महत्वपूर्ण आर्थिक द्रव्य था। यद्यपि इसकी याचना के साथ ही ऋषि कहीं-कहीं सुवर्ण आदि की भी कामना करते हुए दिखाई देते हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि अचल सम्पत्ति भूमि के अतिरिक्त तब चल सम्पत्ति में गो वंश और सुवर्ण आदि गणित थे।[1]

प्राचीन संकेतों से जीविका के अन्य साधनों का भी ज्ञान होता है। जैसे तब कुछ विशेष वर्ग जीवों का शिकार करके अपनी जीविका का निर्वाह करते थे। तब वराह का शिकार करके अपनी जीविका का निर्वाह करते थे। वराह का शिकार कुत्तों के द्वारा और जंगली भैसों का शिकार फेंके जाने वाले कमन्द से किया जाता था। एक दो संदर्भ ऐसे भी हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि तब कभी सिंह का शिकार भी किया जाता था।[2]

इन सबका अभिप्राय केवल यही हो सकता है कि मुख्य साधन जीवन निर्वाह का अन्न ही था किन्तु आखेट आदि के द्वारा मनोरंजन के साथ-साथ जीविका का निर्वाह करना भी हो सकता था।

---

1. निधि विभ्रतिबहुधा गृहावासु मणिं हिरण्यं पृथिवीं ददातु मे। अथर्व (2) , पृ. 611
2. ऋक्.- 2/42/2, 10/51/6, 5/15/3
   परेहि कृत्ये मा तिष्ठो विद्धस्येनं पदं नय।
   मृगः स मृगयुस्त्वं न त्वां निर्कर्तुमर्हति।।
   यदि स्थ तमसावृता जाले नाभिहिता इव।।
   अथर्व.- (1), पृ0 516, 517

वैदिक-कालीन समाज में शिल्प का कार्य कर अपनी जीविका चलाने का उल्लेख मिलता है। कुछ लोग ऐसे थे जो तब शिल्प के कार्य में प्रवृत्त होकर अपनी आर्थिक पूर्ति करते थे। इसका काम बढ़ई अर्थात् लकड़ी का काम करने वालों की गणना की जाती थी। जो धातु का कार्य करने वालों में लोहे का कार्य करने वाले अलग थे और स्वर्ण का कार्य करने वाले पृथक् थे। लोहे का कार्य करने वाले अयोहत के रूप से परिचित थे जबकि सोने के आभूषण बनाने वाले हिरण्यकार कहे गये हैं।[1]

एक स्थान पर ये संकेत भी है कि व्यापार के रूप में कोई दस गाऐं देकर इन्द्र की प्रतिमा का क्रयण करता है। इसी तरह एक संकेत यह भी है कि किसी वस्तु का मूल्य चाहे कम हो अथवा अधिक बिक्री के समय जो निश्चित हो जाए, क्रेता और विक्रेता को वही मानना चाहिए।[2]

उपनिषद् कालिक परम्परा में जीविका के मुख्य साधनों में स्वर्ण, भूमि आदि मुख्य थे। इसका संकेत तब देखा जाता है जब नचिकेता को सन्तुष्ट करने के लिए उसे स्वर्ण और भूमि देने की बात कहते हैं।[3] इतना अवश्य था कि यह सब सुपथ पर चलकर प्राप्त करने की ही तब कामना होती थी।[4]

---

1. ऋक्– 9/112/1, 9/1/2, 1/122/5
2. दशभिर्महेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः।
   ऋक्– 4/24/10, 4/24/9
3. गो अश्वमिह महिमेत्याक्षचे हस्तिहिरण्यं दासभार्यः, क्षेत्राण्यायतनानीति।
   नाहमेवं ब्रवीमि होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन प्रतिष्ठत् इति। ई0द्वा0उ0, पृ0 242
4. अग्नेनभ सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वन्। वही– पृ0 5

उपनिषदों का सारा का सारा जोर अन्न की महत्ता का प्रतिपादन करने में इसलिए था क्योंकि तब कृषि प्रधान जीवन और जीविका के लिए महत्वशील था। अन्न को प्राण कहते हुए तब कहा गया कि अन्न इतना अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि अन्न पर ही स्थावर और जंगम आधारित हैं। जो भी प्रजा है अर्थात् जीव संतति है वह सभी की सभी अन्न से ही जीवित रहती हैं। जिन्होंने भी पृथ्वी का आश्रय लिया है, वे इसके आश्रय के साथ-साथ अन्न पर ही आधारित होकर अपना जीवन धारण करते हैं।[1]

इसके अतिरिक्त उपनिषदों में लौट्ट व्यापार के स्वर्णकार्य के ऐसे संकेतात्मक उदाहरण हैं, जिनसे यह कहना सम्भव है कि तब लौह और स्वर्ण की वस्तुओं के निर्माण से संचालन किया जाता रहा होगा।[2]

---

1. अन्नाद् वै प्रजाः जायन्ते। याः काश्च पृथिवी श्रिताः।
   अथो अन्नेनेव जीवन्ति। ई० द्वा० उ०– पृ० 85

2. उतिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत्। क्षुरस्य धारा निशिता।
   दुरत्यया दुर्गं पथं तत् कवयो वदन्ति। वही पृ०– 25–26।
   यथा सौम्येकेन लौहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं । वही–पृ० 209
   तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामपादान्यायान्वतरं कल्याणतरं ....
   वही– पृ० 372

महाभारत महाकाव्य में भी अर्थ पर विचार किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि सदैव धर्म का अनुसरण करते हुए ही अर्थ प्राप्त करने की इच्छा करनी चाहिए। जो राजा धर्म को अर्थसिद्धि की अपेक्षा भी बड़ा मानता है, उसी को बढ़ाने में मन और बुद्धि का उपयोग करता है, तो वह धर्म से शोभित होता है और समस्त सम्पत्तियाँ उसे स्वीकार करती हैं। अतः धर्म के प्रति आग्रह रखने वाला एवं धर्म और अर्थ का चिन्तन करने वाला तथा अर्थ पर भली भाँति विचार करके उसका सेवन करता है, वह महान फल को भेगता है।[1]

महाभारत में अर्थ के विषय में अन्यत्र उल्लेख है कि अर्थ ही समस्त कर्मों की मर्यादा के पालन में सहायक है, अर्थ के अभाव में धर्म और काम की भी सिद्धि नहीं होती है। धर्म और काम अर्थ के ही दो अवयव है। अर्थ की सिद्धि से उन दोनों की सिद्धि भी होती है।[2]

---

1. अर्थसिद्धेः परं धर्मे मन्यते यो महीपतिः।
   वृद्धयां च कुरूते बुद्धि स धर्मेण विराजते।।
   एवं यो धर्मसंरम्भी धमार्थ परिचिन्तकः।
   अर्थान् समीक्ष्य भजते स ध्रुव महदश्नुते।। महा0– 12/92/7, 14
2. अर्थ इत्येव सर्वेषां कर्मणामव्यतिक्रमः।
   न ह्यृतेऽर्येन वर्तेते धर्मकामाविति श्रुतिः।।
   अर्थस्यावयवापेजतौ धर्मकामाविति श्रुतिः।
   अर्थ सिद्धता विनिर्वृत्ता वुभावेतौ भविष्यतः।।
   महा0– 12/167/ 12, 14

महाभारत महाकाव्य में अर्थवान् उसे कहा गया है जो अपने भृत्यों को उत्तम भोग दें। शत्रुओं को दण्ड देकर उनको वश में रखे। अर्थवान् मनुष्य अर्थ द्वारा उत्तम कार्य का पालन और अजितेन्द्रिय पुरुषों के लिए दुर्लभ कामनाओं की प्राप्ति करा सकता है।[1]

इसलिए मनुष्य अपने मन को संयम में रखकर जीवन में धर्म की प्रधानता देते हुए पहले धर्माचरण करके ही, फिर अर्थ का संग्रह करे क्योंकि धर्मपरायण पुरुष पर ही समस्त प्राणियों का विश्वास होता है, और जब सभी प्राणी विश्वास करने लगते हैं तब मनुष्य का सारा काम स्वतः सिद्ध हो जाता है।

---

1. भृत्यान् भोगैर्द्विषो दण्डैर्यो योजयति सोऽर्थवान्।
   एतन्मतिमतां श्रेष्ठ मतं मम यथातथम्।।

   तस्माद् धर्म प्रधानेन् सोहयोऽर्थः संयतात्मना।
   विश्वस्तेषु हिं भूतेषु कल्पते सर्वमेव हिं।।

   महा0– 12/167/20, 26

जीवकोपार्जन के साधन

महाभारत महाकाव्य में अर्थ की अर्जन की जो स्थिति कही गई है, उसके अनुसार यह कहा गया है कि यह कर्म-भूमि है। यहाँ जीविका के साधनभूत कर्मों की ही प्रशंसा होती है। खेती व्यापार गोपालन तथा भाँति-भाँति के शिल्प ये सब अर्थ प्राप्ति के साधन हैं।[१]

अन्यत्र भी अर्थ-अर्जन के विषय में वर्णित है-कि सभी वर्ण अपने-अपने लिए निर्धारित कर्म करें उसी से अपने लिए जीविका साधन प्राप्त करें। इसमें ब्राह्मण के लिए अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान व प्रतिग्रह अर्थ के साधन थे। जो राज परिवार के क्षत्रियवंशी होते थे, वे प्रजा की रक्षा करते थे, लगान के रूप में छठा भाग कर के रूप में प्रजा से लेकर अपनी जीविका चलाते थे। वैश्य, समाज का कार्य, पशुपालन, खेती, गोपाल और क्रय-विक्रय से अपना पोषण करते थे। शूद्र तीनों वर्णों की सेवा कर जीविका चलाता था।[२]

---

1. कर्मभूमिरियं राजन्निह वार्ता प्रशस्यते।
   कृषिर्वाणिज्यगोरक्षं शिल्पानि विविधानि च।। महा0– 12/167/11
2. अधीत्याध्यापनं कुर्यात् तथा यजन-याजने दानं प्रतिग्रहं वापि षऽगुवां प्रत्तिमाचरेत्। महा0– 14/45/21।
   सम्यक् प्रजापालयिता षडभागनिरतः सदा। महा0– 14/92, पृ. 6311
   कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्य कर्म स्वभावजम्। महा0– 6/42/44
   ब्रह्मक्षत्रं वैश्यवर्णं च शूद्रः क्रमणैतान् , न्यायतः पूजयानः। महा0– 5/40/28

महाभारत महाकाव्य का अधिकतम् अंश सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप अपनी कथा एवं आख्यानों के माध्यम से करता है। इसमें प्राचीन समय में वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था प्रमुख रूप से विद्यमान थीं, इसलिए अन्य जो भी वर्णन है वह सभी इन्हीं पर आधारित हैं। इसलिए जब तब की आर्थिक व्यवस्था का कथन किया गया है, तो यही कहा गया है कि उस समय की आर्थिक व्यवस्था वर्णानुकूल ही थी।

इसलिए यह कथन पुनः दुहराया गया है कि ब्राह्मण अध्ययन अध्यापन, यजन-याजन, व दान से अपनी जीविका चलाये, अनुचित प्रतिग्रह स्वीकार न करे। क्षत्रिय प्रजा की रक्षा करे, युद्ध को क्षत्रिय का प्रधान मार्ग बताया जाता है। प्रजा की रक्षा से वह कृतकृत्य हो जाता है। वैश्य को खेती व्यापार, क्रय-विक्रय पशुपालन से अपनी जीविका चलानी चाहिए। शूद को तीनों वर्णों की सेवा करके अपनी जीविका चलानी चाहिए। भिक्षा, होम और व्रत ये कर्म शूद्र के लिए मना है।[१]

---

1. अध्यापयेद्धीयीत याजयेत यजेत वा।
न वृथा प्रतिगृहयान्न च दद्यात् कर्थचन्।। महा0- 12/234/11
अविक्षतेन् देहेन समरात् यो निवर्तते। क्षत्रियो नास्य तत कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः।।
महा0- 12/60/16
वैश्योऽधीत्य ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्च, धनैः काले सांविभज्याश्रितांश्च।
कृषि गौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्य कर्म स्वभावजम्। महा0- 6/40, 42/27, 44
शूश्रूषा च द्विजातीनां शूद्राणा धर्म उच्यते। महा0- 3/150/36

आपत्ति के समय में ब्राह्मण क्षत्रिय आदि को अपनी जीविका का निर्वाह किस प्रकार से करना चाहिए? इसका उल्लेख भी महाभारत में मिलता है। आपत्ति के समय अथवा जब धर्म का ह्रास होने लगे तब ब्राह्मण को विज्ञान या बुद्धि बल का आश्रय लेना चाहिए।

उसको क्रोध न करते हुए निन्दितों के साथ भी उचित व्यवहार करना चाहिए। संसार में जो भी धन है वह श्रेष्ठ पुरूषों के लिए है। दुष्टों के लिए कुछ भी नहीं है। अतः आपत्ति के समय में ब्राह्मण को बुरे कर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। जीविका के नष्ट होने पर वह क्षत्रिय धर्म से भी जीविका का निर्वाह कर सकता है, तथा आवश्यकता पड़ने पर वैश्य धर्म के गोरक्षा, कृषि आदि का आश्रय ले सकता है।[१]

आपत्ति के समय क्षत्रिय को अपने राज्य को बनाये रखने के लिए तथा राज्य की व्यवस्था को सुचारू ढ़ंग से चलाने के लिए ब्राह्मण व प्रजा की रक्षा के उद्देश्य से राज्य के धनिकों का धन अपना समझकर बलपूर्वक ले लेना चाहिए।

आपत्ति काल में भी क्षत्रिय को सदा दुष्टों का दमन, शिष्टों का पालन करना चाहिए।[२]

---

1. महा0– 12/132/3

अशक्तः क्षत्रधर्मेण वैश्यधर्मेण वर्तयेत्। कृषि गोरक्ष्यमास्थाय व्यसने वृत्तिसंक्षये।।

महा0–12/78/2

आकांक्षन्नत्मनोराज्यं राज्ये स्थितिमकोपयन। अदत्तमेवाददीत् दातुर्वित्तं ममेति च।।

महा0– 12/132/5

आशिष्ट निग्रहो नित्यं शिष्टस्य परिपालनम् एवं शुक्रोऽब्रवीद धीमामापत्सु भरतर्षभ।।

महा0– 12/142/34

भार0 सावि0– पृ0 672–682,

कृषि एवं पशुपालन

महाभारत महाकाव्य एक ऐसा महाकाव्य है जो विशेष रूप से धर्म, अर्थ काम और मोक्ष के सन्दर्भ में भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेश को कहता है, वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था और संस्कारों आदि का परिचय देता है। साथ ही साथ यह महाकाव्य अनेकानेक राजवंशों का आख्यान वर्णित कर उनके विविध वर्णन भी करता है। इसलिए इस महाकाव्य में आर्थिक व्यवहार के रूप में कुछ विशेष अथवा अतिरिक्त रूप से नहीं कहा गया है। क्योंकि प्राचीन वर्ण व्यवस्था में सभी के कर्त्तव्यों को उनका धर्म माना जाता था, इसलिए भिन्न-भिन्न वर्णों के कर्त्तव्यों में कृषि, वाणिज्य, पशुपालन आदि का उल्लेख तो है किन्तु वाणिज्य का कोई विधिपूर्वक विस्तार से वर्णन नहीं है।

इसी तरह से कृषि और पशुपालन का कोई वैज्ञानिक और वैधानिक व्यवहार इस पुराण में वर्णित नहीं है, फिर भी संकेतों से यह पुष्ट है कि तब समाज में कृषि तथा पशुपालन पर ही पूरा जोर था। क्योंकि मनुष्य का जीवन अधिकतर प्रकृति से जुड़ा हुआ था, इसलिए उसे कृषि और पशुपालन को सौविध्य भी था।

अतः जिन सन्दर्भों को इस प्रसंग में लिया जा सकता हे वे भूमि के महत्व को और गौरक्षा को अधिक स्पष्ट रूप से रेखांकित करते हैं।

महाभारत काल में जिन पशुओं की प्रमुखता थी उनमें गाय, बैल, हाथी, घोड़े प्रधान थे। गाय व बैल कृषि इत्यादि के लिए उपयुक्त थे। घोड़े व हाथी का उपयोग बड़े-बड़े युद्धों में होता था।

महाभारत काल में अनेक वीर, पराक्रमी, राजा हुए जिन्होंने कई वर्षों तक पृथ्वी के चारों भागों का तथा समुद्र से आवृत सम्पूर्ण देशों का पालन किया। इनमें भीष्म, युधिष्ठिर, दुष्यन्त, पुरु इत्यादि अग्रगण्य है। भीष्म ने यद्यपि राजा न बनकर माना कार्यभार को संभाला तथापि उनके समय में हस्तिनापुर अत्याधिक उन्नतिशील राज्य हो गया था।

प्रजा सत्य, धर्म, व्रत यज्ञकर्म तथा अनेक धर्मानुकूल कर्मों में संलग्न रहती थी। कृषि व्यवस्था सुदृढ़ हो गयी थी। अनेक प्रकार के अनाज पृथ्वी से उत्पन्न होते थे। कृषि की उपज भी बढ़ गयी थी। अन्न सरस होने लगा था। वृक्षों में बहुत से फल-फूल उत्पन्न होने लगे थे।[१]

महाभारत काल में कृषि व पशुपालन मुख्यतः वैश्यों के कर्म थे। एक स्थान पर वैश्यों की जीविका निर्वाह का उल्लेख करते हुए पितामह युधिष्ठिर से कहते हैं- कि वैश्य गोपालन एवं कृषि के द्वारा अपनी जीविका चलाते हैं। इस कारण उनके रंग पीले हैं। वे वैश्य वेदाध्ययन से सम्पन्न होकर व्यापार, पशुपालन और खेती का काम करके अन्न संग्रह की रुचि रखते हैं और सदैव पवित्र रहते हैं।[२]

---

1. ऊर्ध्वसस्याभवद् भूमिः सस्यानि रसवन्ति च।
   यथवर्तुवर्षी पर्जन्यो बहुष्पफला द्रुमाः।। महा0– 1/108/2।
2. गोभ्यो वृत्तिं समास्थायं पीताः कृष्युपजीविनः।
   स्वधर्मान नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः।।
   महा0– 12/188/12
3. वाणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः।।
   वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः।।
   महा0–12/189/6

महाभारत काल में पशुपालन करने वाले वैश्यों को उनका वेतन उन्हीं पशुओं से प्राप्त हो जाता था। महाभारत में एक स्थान पर उल्लेख है कि वैश्य यदि राजा की अथवा किसी दूसरे की छैः दुधारू गौओं का एक वर्ष तक पालन करे, तो उनमें से एक गौ का दूध वह वेतन के रूप में ग्रहण करें। यदि दूसरे की गौओं का वह पालन करे तो साल भर में एक गाय और एक बैल राजा से वेतन के रूप में प्राप्त करे।

यदि उन पशुओं के दूध आदि बेचने से धन प्राप्त हो, तो उसमें सांतवां भाग वह वेतन के रूप में ग्रहण करे।

सींग बेचने से जो धन मिले, उसमें से वह सातवाँ भाग ही ले परन्तु पशु विशेष का बहुमूल्य खुर बेचने से जो धन प्राप्त हो, उसका सोलहवाँ भाग ही उसे ग्रहण करना चाहिए।[1]

महाभारत में कृषि के सम्बन्ध में वैश्य के लिए कथन है कि दूसरे के अनाज-फसलों तथा सब प्रकार के बीजों की रक्षा करने पर वैश्य को अनाज अथवा उपज का सातवाँ भाग वेतन के रूप में ग्रहण होता था। ये उसके लिए वार्षिक वेतन था।[2]

---

1. **षण्णमेकां पिवेद् धेनुं शताच्च मिथुनं हरेत्।**
   लब्धाच्च सप्तमं भागं तथा श्रृडगे कलां खुरे।।
   महा0– 12/60/25

2. **सस्यानां सर्वबीजानामेषा सांवत्सरी भृतिः।**
   न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशुनिति।।
   महा0– 12/60/26

महाभारत कालीन पशुओं में गाय अत्याधिक पवित्र व धार्मिक पशु थी। अनेक बड़े-बड़े राजाओं ने गोदान कर पुण्य लोकों को प्राप्त किया। गौओं की रक्षा से भी पुण्य की प्राप्ति होती थी। गौओं का महत्व बताते हुए पितामह ने युधिष्ठिर से कहा- ये गौऐं अपने दूध और घी से प्रजा का भी पालन पोषण करतीं हैं। इनके पुत्र (बैल) कृषि के काम आते हैं तथा नाना प्रकार के धान्य एवं बीज उत्पन्न करते हैं। उन्हीं से यज्ञ सम्पन्न होते हैं हव्य कव्य का निर्वाह होता है।[१]

अतः महाभारत काल में गौओं को बड़ा पवित्र माना जाता था। महाभारत में एक स्थान पर ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि एक वार देवि लक्ष्मी ने गौओं के समीप जाकर उनके शरीर के किसी भी अंग में निवास के लिए स्थान मांगा। तब गौओं ने आपस में मन्त्रणा कर लक्ष्मी से कहा हे शुभे! हमें अवश्य ही तुम्हारा सम्मान करना चाहिए, इसलिए तुम हमारे गोबर व मूत्र में निवास करो।[२]

---

1. धारयन्ति प्रजाश्चैव पयसा हविषा तथा। एतासां तनयाश्चापि कृषियोगमुपासते।।
   जनयन्ति च धान्यानि बीजानि विविधानि च ।
   ततो यज्ञाः प्रवर्तन्ते हव्यं कव्यं च सर्वशः। महा0- 13/83/18, 19

2. अवश्यं मानना कार्या तवास्मामिर्यशस्विनि।
   शकृन्मूत्रे निवसत्वं पुण्यमेतद्धि नः शुभे।।
   महा0-13/82/24

महाभारत कालीन पशुओं में गाय के अतिरिक्त घोड़ों को भी पाला जाता था। महाभारत के एक सन्दर्भ में जब पाण्डव एक वर्ष के अज्ञातवास के लिए राजा विराट के यहाँ वेश बदलकर निवास करते हैं, तब नकुल अश्वों की देखरेख में स्वयं को नियुक्त करते हैं। नकुल अश्व विद्या में निपुण थे। वे घोड़ों की जाति पहचानते थे। वे घोड़ों की दुष्टता का निवारण भी उन्हें मालूम था। घोड़ों की चिकित्सा भी पूर्णरूप से उन्हें ज्ञात थी। इससे ये स्पष्ट होता है कि उस समय में घोड़ों का पालन भी होता था।[१]

एक स्थान पर यह भी कहा गया है कि महाभारत युद्ध अवश्यांभी होने पर, आयुधों के बड़े-बड़ें कारखाने खोले गये, जिसमें लड़ाकू अश्वों का भी क्रय-विक्रय किया गया।[२]

---

1. अश्वानां प्रकृतिं वेधि विनयं चापि सर्वशः।
   दुष्टानां प्रतिपत्तिं च कृत्स्न्नं चैवचिकित्सतम्।।
   महा0- 4/12/7

2. भा. सावि.- पृ0 325-327

महाभारत काल में कृषि एवं पशुपालन ही मुख्य व्यवसाय था। जिससे उस समय के लोग अपनी जीविका निर्वाह करते थे। गौ का दूध विक्रय करने का व्यवसाय भी उस समय में था। वैश्य भी अनेक वस्तुओं को बेचते थे।

वे पैसे को ब्याज पर भी दिया करते थे। इस तरह के छोटे-छोटे व्यवसाय प्रचलन में थे।

अतः महाभारत काल में गेहूँ, जौ, चना, उड़द, हल्दी समस्त खाद्यों का, कपास का, नाना प्रकार की औषधियों का उत्पन्न किया जाता था। (कृषि की जाती थी)।

पशुपालन के माध्यम से गाय, भैंस, बकरी ऊँट, घोड़े हाथी को पाला जाता था। इनकी विभिन्न वस्तुऐं जैसे- दूध, खाल, खुर, सींग का क्रय-विक्रय भी होता था।

मनुष्यों, देवता, पशु, पक्षी आदि अन्य समस्त प्राणियों के उपयोग में आने वाली समस्त पवित्र वस्तुओं को खरीदना और बेचना, आवश्यकतानुसार उनको एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचाकर वाणिज्य अर्थात् क्रय-विक्रय का व्यवहार ही उस समय प्रचलन में था। वाणिज्य करते समय वस्तुओं के खरीदने बेचने में तौल-नाप और गिनती आदि से कम दे देना या अधिक लेना, वस्तु को बदलकर अथवा एक वस्तु में दूसरी वस्तु मिलाकर अच्छी के बदले खराब दे देना या खराब के बदले अच्छी दे देना, नफा, आढ़त और दलाली आदि ठहराकर उससे अधिक या कम देना, इसी तरह व्यापार में झूठ, कपट, चोरी इत्यादि अनेक वाणिज्य दोष व्याप्त थे।

इन दोषों से रहित सत्य व न्याययुक्त पवित्र वस्तुओं का खरीदना-बेचना, क्रय-विक्रय रूप सत्य व्यवहार कहलाता था।

"राजनैतिक तथा अर्थनीति का सामंजस्य"

महाभारत कालीन समाज के लिए यह स्पष्ट संकेत किया गया था कि सामाजिक व्यवस्था और मानवीय आचार तभी प्रशंसा का अधिकारी है जब वह नैतिक और आचारात्मक दृष्टि से उन्नतिशील हो। इसलिए तब के समय में चाहे राज्य के लिए हो अथवा आर्थिक व्यवस्था के लिए, नैतिकता का महत्व सभी जगह स्थापित था, इसलिए मनुष्य मात्र के लिए उसके जीवन संचालन के लिए जो कहा गया उसमें यह कहा गया कि मनुष्य मात्र का धर्म और कर्त्तव्य है कि वह व्रत, नियम, दम, सत्य, ब्रह्मचर्य, माता-पिता, गुरु आदि की सेवा की महत्ता का पालन करें।[1]

इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि राजा को अन्न, सुवर्ण, जल, भूमि गौ, तिल, दीप, तथा रत्न, व अन्य सामग्रियों को दान करना चाहिए ताकि समाज में सभी को समान स्थान मिले। गरीबों को राजा दान देकर उनकी सहायता कर समाज में एकता अथवा एकत्व की स्थापना करता था। इसलिए राजनीति का लक्ष्य अर्थनीति के समन्वय के साथ मनुष्य मात्र का हित साधन ही था।[2]

---

1. महा0–पृ0 5701–5703

2. महा0– पृ0 5670–5685

इस नीति का पालन तो राजा करता ही था, तत्कालीन समाज के सामाजिक तथा ऋषि, विद्वान् आदि भी ऐसा करने के लिए राजा को विवश करते थे। इसलिए राजा स्वयं अपने संस्कार वश अथवा प्रजा के दबाव से अपनी राजनीति और अर्थनीति का ऐसा सामञ्जस्य बनाकर चलता था जिससे वह प्रजाहित में निरंतर निरत रहे।

पंचम अध्याय

पंचम अध्याय

महाभारत का धार्मिक स्वरूप-

अ. महाभारत का धार्मिक स्वरूप।

ब. सामान्य धर्म।

स. विशेष धर्म।

द. आश्रम धर्म।

य. लोक धर्म और परलोक धर्म।

र. धर्म, नीति और आचार का समन्वय।

ल. निष्कर्ष एवं समीक्षा।
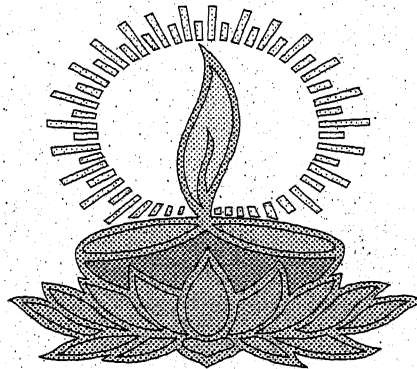
पंचमअध्याय

''महाभारत का धार्मिक स्वरूप''

<u>सामान्य धर्म</u> ::-

कौटिल्य अर्थशास्त्र के प्रणेता महर्षि चाणक्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र में धर्म के दो स्वरूपों का कथन किया है। वे लिखते हैं कि वर्णधर्म और आश्रम धर्म तो वे धर्म हैं जो अपने-अपने कर्त्तव्यों के निर्वहन के रूप में विविध वर्णों द्वारा सम्पादित किये जाते हैं। इसी तरह से विविध आश्रमवासियों के द्वारा अपने कर्त्तव्यों के निर्वहन के रूप में जिन कार्यों का निर्वहन होता था, वे आश्रम धर्म कहे जाते थे। विशेष-विशेष वर्णों और विशेष आश्रमों के द्वारा अपने कर्त्तव्यों के रूप में कहे गए कर्म ही विशेष धर्म माने जाते थे।[१]

जो धर्म कार्य सभी के लिए होते थे, वे सामान्य जनों के होने के कारण सामान्य कहे जाते थे। इनका पालन करना सभी जनों के लिए हितकारक और मानवीय मान को प्रकट करने वाला होता था, इसलिए ऐसे धर्म सामान्य धर्म कहे जाते थे। कौटिल्य ने इनमें अहिंसा, सत्य, शौच, अनसूया, अनृशंसता और क्षमा को कहा है। क्योंकि इनका पालन करना सभी वर्णों और आश्रमवासियों के द्वारा सुखकर होता था, इसलिए इनका पालन करना सामान्य धर्म कहा गया था।[२]

---

1. एष त्रयीधर्मश्चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां च स्वधर्मस्थपनादौपकारिकः।
   कौ. अ.- पृ. 12
2. सर्वेषामहिंसा सत्यं शौचमनसूयानृशंस्यं क्षमा च।
   वही पृ. 14

इस रूप में सामान्य धर्म के अंगों में जिनकी गणना कौटिल्य ने की है वे हैं– अहिंसा, सत्य, शौच, अनृशंसता, अनसूया, क्षमा। इसके अतिरिक्त धर्म के जो अंग अन्य स्थानों पर गिनाये जाते हैं, वे भी महाभारत में प्राप्त होते हैं।

<u>अहिंसा</u> ::–

महर्षि पंतजलि के द्वारा रचित योग सूत्र में योग के अष्टांगों में यम के अन्तर्गत अहिंसा की प्रतिष्ठा को कहा गया है। उस संदर्भ में व्याख्या करते हुए एक व्याख्याकार ने यह लिखा है कि शरीर, वाणी अथवा मन से काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि की मनोवृत्तियों के साथ किसी भी प्राणी को शरीरिक अथवा मानसिक दुःख पहुँचाना हिंसा है।

इस प्रकार से किसी भी जीव को किसी भी रूप में पीड़ित न करना ही अहिंसा है। अर्थात् शारीरिक और मानसिक रूप से जो अपने जीवन में आचरण करता है उसकी अहिंसा में प्रतिष्ठा हो जाती है और इस तरह से उसका सभी प्राणियों से बैर छूट जाता है।

---

1. पा. यो. प्र. पृ0– 380, 426

महाभारत महाकाव्य में धर्मों के कथन के सम्बन्ध में अहिंसा का कथन किया गया है। एक स्थान पर महाराज युधिष्ठिर को वृहस्पति देव अहिंसा का महत्व बताते हुए कहते हैं कि- इस भूमण्डल पर अपने आत्मा से बढ़कर कोई प्रिय वस्तु नहीं हैं। इसलिये सब प्राणियों पर दया करें और सबको अपनी आत्मा ही समझें। अहिंसा ही परम धर्म है, अहिंसा परम संयम है, अहिंसा परम दान है, और अहिंसा परम तपस्या है।

अहिंसा परम यज्ञ है, अहिंसा परम फल है, अहिंसा मित्र है और अहिंसा परम सुख है। जो हिंसा नहीं करता, उसकी तपस्या अक्षय होती है। वह सदा यज्ञ करने का फल पाता है। हिंसा न करने वाला मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों के माता पिता के समान है।[1]

इस रूप में यदि देखा जाय तो अहिंसा एक ऐसा धर्म है जिसका परिपालन करना सभी प्राणियों के लिए सुखकर है। मनुष्य अधिक विवेकी होता है और सम्भवतः अन्य सभी से अधिक हिंसा भी करता है। इसलिए अधिकतम रूप से उसी का अहिंसक होना समादर्य है। अहिंसा में केवल स्थूल हिंसा का परित्याग करना ही पर्याप्त नहीं है। अपितु मानसिक रूप से भी पीड़ित करना एक प्रकार से हिंसा ही है। सम्भवतः मानसिक हिंसा शारीरिक हिंसा से अधिक पीड़ाजनक है। इसलिए धर्म कथन में अहिंसा का अधिक महत्व है।

---

1. नाऽमनोऽस्ति प्रियतरः प्रथिवीमनुसृत्य ह।
तस्मात प्राणिषु सर्वेषु दयावानात्मवान् भवेत।। 22।
अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः।।
अहिंस्त्रस्य तपोऽक्षय्यमहिंस्त्रो यजते सदा।
अहिंस्त्रः सर्वभूतानां यथा माता यथा पिता।। महा.– 13/116/22/28, 31

"*सत्य*" ::-

सत्य की महिमा का कथन अनेकशः किया गया है। महर्षि पतंजलि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ योगदर्शन में अष्टांग योग के उपांग के रूप में सत्य का कथन किया है। किसी भी वस्तु का यथार्थ-ज्ञान और उसका उसी रूप में व्यवहार प्रयोग सत्य की कोटि में आता है। शरीर को जिसका पालन हो, वह शरीर का सत्य है, वाणी से जिसका पालन हो वह वाणी सत्य है और मन से जिसका पालन हो, वह मन का सत्य कहा गया है।[१]

महर्षि मनु महाराज ने मनुष्य के लिए धर्म की अवधारणा का कथन किया है। और धर्म के दस अंगों का विवरण दिया है। इसके अनुसार धृति, क्षमा, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धीरता, विद्या, सत्य, अक्रोध, धर्म के अंग हैं।[२]

सत्य धर्म का एक अंग है किन्तु सत्य के व्यवहार से ही मानव मात्र का जीवन चलता है। इसलिए आचार्य सत्य के प्रयोग के विषय में अपना मन्तव्य इस प्रकार देते हैं कि सत्य का ही प्रयोग करो किन्तु प्रिय सत्य का ही व्यवहार करो जो अप्रिय सत्य हो उसका प्रयोग मत करो, किन्तु असत्य का प्रयोग भी किसी दशा में मत करो।[३]

---

1. पा. यो. प्र. पृ0– 379

2. धृतिक्षमादमोऽस्तेयं शौच,मिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। म0स्मृ0–पृ0 239

3. सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्म सनातनः।। वहीं पृ0– 164

महाभारत महाकाव्य में सत्य के सन्दर्भ में अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं और ये अनुभव किया जा सकता है कि सत्य मानव जीवन का सर्वश्रेष्ठ गुण है। इस महाकाव्य में एक स्थान पर सत्य की महिमा बताते हुए पितामह युधिष्ठिर से कहते हैं कि– हे युधिष्ठिर! जो सत्यवादी पुरूष होता है उसका पुण्य, तथा सम्पूर्ण वेदों का धारण करना और समस्त तीर्थों में स्नान करना, इन सत्कर्मों के पुण्य दोनों में, सत्य अधिक श्रेष्ठ है।[१]

सत्य से जो पुण्य प्राप्त होता है वह एक हजार अश्वमेद्य यज्ञों के पुण्य् के बराबर ही होता है। सत्य पर ही सम्पूर्ण संसार आश्रित है। सत्य से सूर्य तपता है, सत्य के प्रभाव से ही अग्नि प्रज्जवलित होती है और सत्य से ही वायु का संचार होता है।

सभी देवगण, पितृगण और ब्राह्मण सत्य से ही प्रसन्न होते हैं। सत्य ही परम धर्म है।[२]

---

1. धारणं सर्ववेदानां सर्वतीर्थावगाहनम्।
   सत्य च ब्रुवतो नित्यं समं वा स्यान्न वा समम्।। महा.– 13/75/28

2. अश्वमेद्यसहस्त्रं च सत्यं च तुलया धृतम।
   अश्वमेद्यसहस्त्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते।।
   सत्येन् देवाः प्रीयन्ते पितरो ब्राह्मणास्तथा।
   सत्यमाहुः परो धर्मस्तस्मात् सत्यं विशिष्यते।। महा.–13/75/29, 31
   सत्येन् सूर्यस्तपति सत्येनाग्निः प्रदीप्यते।
   सत्येन मरूतो वान्ति सर्वे सत्ये प्रतिष्ठितम्।। महा.– 13/75/30

महाभारत में अन्यत्र भी पितामह युधिष्ठिर से राजधर्म के अन्तर्गत सत्य की आवश्यकता बताते हुए कहते हैं कि राजा के लिए सत्य के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु सिद्धिकारक नहीं है। सत्य परायण राजा इहलोक और परलोक में भी सुख पाता है।[१]

पितामह कहते हैं- ऋषियों के लिए भी सत्य ही परम धन है, इसी प्रकार राजाओं के लिए सत्य से बढ़कर दूसरा कोई ऐसा साधन नहीं है जो प्रजावर्ग में उसके प्रति विश्वास उत्पन्न करा सके।

पितामह भीष्म युधिष्ठिर से सत्य तथा असत्य का विवेचन करते हुए कहते हैं कि जहाँ असत्य ही सत्य का काम करे (किसी प्राणी को संकट से बचाये) अथवा सत्य ही झूठ बन जाय (किसी के जीवन को संकट में डाल दे) तो ऐसे अवसरों पर सत्य नहीं बोलना चाहिए। वहाँ असत्य भाषण ही उचित हैं।[२]

---

1. नहिं सत्यादृते किंचिद् राज्ञां वै सिद्धिकारकम्।
   सत्ये हि राजा निरतः प्रेत्य चेह च नन्दति।।

   ऋषीणामपि राजेन्द्र सत्यमेव परं धनम्।
   तथा राज्ञां परं सत्यान्नान्यद् विश्वासकारणम्।। महा.- 12/56/17, 18

2. भवेत् सत्यं न वक्तव्यं वक्तव्यममृतं भवेत्।
   यत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यं वाप्यनृतं भवेत्।। महा.- 12/109/5

महाभारत महाकाव्य में भगवान् श्रीकृष्ण युधिष्ठिर का वध करने के लिए उद्यत अर्जुन को बलाक व्याध ओर कौशिक मुनि की कथा सुनाते हुए सत्य–अहिंसा का महत्व बताते हुए धर्म का तत्त्व बताते हैं।

वे कहते हैं कि प्राचीनकाल में बलाक नाम से प्रसिद्ध एक व्याध रहता था, जो अपने माता–पिता, पत्नि व पुत्रों की जीवन रक्षा के लिए हिंसक पशुओं का वध करता था, कामना वश नहीं। वह सदा अपने धर्म में लगा रहता, सदैव सत्य बोलता, कभी किसी की निन्दा नहीं करता था। एक बार पशुओं को मारने के लिए जंगल में गया किन्तु कोई पशु न मिलने पर उसने पानी पीते हुए एक अंधे हिंसक जीव को मार डाला। उसी समय व्याध पर आकाश से पुष्पों की वर्षा होने लगी।

उस अंधे पशु ने अपने पूर्व जन्म में तप करके सम्पूर्ण प्राणियों का संहार करने के लिए वर प्राप्त किया था। इस कारण ब्रह्मा जी ने उसे अन्धा बना दिया था। इस प्रकार समस्त प्राणियों का अन्त कर देने के निश्चय से युक्त उस जन्तु को मारकर बलाक स्वर्ग लोक चला गया। अतः सत्य का स्वरूप अत्यन्त दुर्ज्ञेय है।[१]

---

1. पुरा व्याधोऽभवत् कश्चिद् बलाको नाम भारत्।
यात्रार्थे पुत्रदारस्य मृगान् हन्ति न कामतः।।
स कदाचिन्मृगं लिप्सुनर्भ्यिंविन्दन्मृगं कचित्।
अपः पिबन्तं ददृशे श्वापदं ध्राणचक्षुषम्।।
अदृष्टपूर्वमपि तत् सत्वं तेन् हतं तदा।
अन्धे हते ततो व्योम्नः पृष्पवर्षे पपात्त च ।।
तद्धत्वा सर्वभूतानामभावकृत निश्चयम्।
ततो बलाकः स्वरगादेवं धर्मः सुदुर्विदः।। महा.– /69/ 31,41, 42, 45

इसी तरह कौशिक नाम का एक तपस्वी ब्राह्मण था जो अधिक शास्त्रज्ञ नहीं था, गाँव के समीप नदियों के संगम पर रहता था। उसने सत्य बोलने का नियम ले लिया था। इसलिए वह सत्यवादी के नाम से प्रसिद्ध हो गया था। एक दिन कुछ लोग लुटेरों के डर से छिपने के लिए उस वन में घुस गये किन्तु वे लुटेरे वहाँ भी उन्हें खोजते हुए पहुँच गये।

उन्होंने कौशिक मुनि को सत्यवादी जानकर उनसे पूछा तब मुनि ने डाकुओं से उन लोगों का पता बता दिया। डाकुओं ने उन सब का पता पाकर निर्दयता पूर्वक मुनि को मार डाला।[१]

इस प्रकार वाणी का दुरुप्रयोग करने से कौशिक मुनि को महान पाप लगा, जिससे उन्हें नरक का दुःख भोगना पड़ा, क्योंकि वे धर्म के सूक्ष्म स्वरूप को समझने में कुशल नहीं थे।

कैसा आश्चर्य है कि धर्म की इच्छा रखने वाला मूर्ख तपस्वी सत्य बोलकर भी अधर्म के फल को प्राप्त हो जाता है और अंधे हिंसक पशु की हिंसा करके भी व्याध महान पुण्य प्राप्त कर लेता है।

---

1. कौशिकोऽप्यभवद् विप्रस्तपस्वी नो बहुश्रुतः।
   नदीनां संगमे ग्रामाददूरात् स किलावसत्।
   अथवस्युभयात् केचिद् तदा तद् वनमाविशन्।
   तत्रापि दस्यवः क्रुद्धास्तान मार्गन्त यत्नतः।।
   सत्येन् प्रष्टः प्रब्रूहि यदि तान् चेत्थ शंस नः।
   स पुष्टः कौशिकः सत्यं वचनं तानुवाच दा।
   तेनाधर्मेण महता वाग्दुरुक्तेन् कौशिकः।
   गतः स कष्टं नरकं सूक्ष्मधर्मेष्प कोविदः।। महा.– /69/46, 48, 50, 52

महाभारत के पंचम खण्ड में युधिष्ठिर के पूछने पर पितामह द्वारा सत्य के लक्षण व स्वरूप का उल्लेख मिलता है।

पितामह युधिष्ठिर को बताते हैं कि सत्य, समता, दम, मत्सरता का अभाव, क्षमा लज्जा, सहनशीलता, अनुसूया, त्याग, परमात्मा का ध्यान, आर्यता, धैर्य तथा अहिंसा ये तेरह सत्य के ही स्वरूप हैं।

नित्य एक, अविनाशी और अधिकारी होना ही सत्य का लक्षण है। समस्त धर्मों के अनुकूल कर्त्तव्य पालन रूप योग के द्वारा इस सत्य की प्राप्ति होती है।[1]

सत्य के स्वरूप तथा इनकी प्राप्ति के उपाय अग्रलिखित हैं- अपने शत्रु तथा मित्र में समान भावरखना 'समता' है। राग, द्वेष, काम और क्रोध को मिटा देना ही समता की प्राप्ति के उपाय हैं।

---

1. सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः।
   अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता।।
   त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं स्थिरा।
   अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश।।

   सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च।
   सर्वधर्माविरूद्धेन् योगेनैतदवाप्यते।। महा– 12/162/ 8, 9, 10

किसी दूसरे की वस्तु को लेने की इच्छा न करना, सदा गम्भीरता और धीरता रखना, भय को त्याग देना तथा मन के रोगों को शान्त कर देना– यह 'दम' का लक्षण है। इसकी प्राप्ति ज्ञान से होती है। इसी प्रकार दान और धर्म के समय मन पर संयम रखना, इसे मत्सरता का अभाव कहते हैं। सदा सत्य के पालन से मनुष्य मत्सरता से रहित हो सकता है।[१]

जो सहनीय व असहनीय व्यवहारों तथा प्रिय व अप्रिय वचनों को समान रूप से सहन कर लेता हैं, वही क्षमाशील श्रेष्ठ पुरुष है। सत्यवादी पुरुष को ही उत्तम रीति से क्षमाभाव की प्राप्ति होती है। तथा जो दूसरों का कल्याण करता है, और खेद नहीं करता, जिसकी मन वाणी सदा शान्त रहती है। वह लज्जाशील माना जाता है। यह लज्जा नामक गुण धर्म के आचरण से प्राप्त होता है।[२]

---

1. **दमो नान्यस्प्रहा नित्यं गाम्भीर्ये धैर्यमेव च।**
 अभयं रोगशमनं ज्ञानेनैतदवाप्यते।।
 अमात्सर्ये बुधाः प्राहुर्दाने धर्मे च संयमः।
 अवस्थितेन् नित्यं च सत्येनामत्सरी भवेत्।।

2. **अक्षमायाः क्षमायाश्च प्रियाणीहाप्रियाणि च।**
 क्षमते सम्मतः साधुः साध्वाप्रोतिं च सव्यवाक्।।
 कल्याणं कुरुते बाढ़ं धीमान् न ग्लायते कचित्।
 प्रशान्तवाङ्वना नित्यं ह्रीस्तू धर्मादवाप्यते।।
 महा.– 12/162/12, 15

धर्म और अर्थ के लिए मनुष्य जो कष्ट सहन करता है वह तितिक्षा है, उसकी प्राप्ति धैर्य से होती हैं। दूसरों के दोष न देखना अनसूया है। विषयों की आसक्ति का त्याग ही वास्तविक त्याग है इसकी सिद्धि राग-द्वेष से रहित होने पर होती है। परमात्मा का चिन्तन ही ध्यान है।

जो मनुष्य अपने को प्रकट न करते हुए प्राणियों की भलाई करता है, उसके आचरण को आर्यता कहते है। वह आसक्ति के त्याग से प्राप्त होती है।[1]

इसी प्रकार सुख या दुख प्राप्त होने पर मन में विकार न होना धृति है। मन, वाणी, क्रिया द्वारा सभी प्राणियों के साथ प्रेम करना अहिंसा है।[2]

ये पृथक्-पृथक् तेरह रूपों में बताये हुए धर्म एक मात्र सत्य को लक्षित करने वाले हैं। ये सत्य का ही आश्रय लेते है और उसी की वृद्धि एवं पुष्टि करते हैं।

---

1. धर्मार्थहेतोः क्षमते तितिक्षा क्षान्तिरूच्यते।
लोकसंग्रहणार्थे वै सा तु धैर्येण लभ्यते।।
त्यागः स्नेहस्य त्यागो विषयाणां तथैव च।
रागद्वेषप्रहीणस्य यत् त्यागो भवति नान्यथा।।
आर्यता नाम भूतानां यः करोति प्रयत्नतः।
शुभं कर्म निराकारो वीतरागस्तथैव च।।

2. धृतिर्नाम सुखे दुःखे यथा नाप्नोति विक्रियाम्।
तां भजेत सदा प्राज्ञो य इच्छेद् भूतिमात्मनः।।
अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः।।
महा.– 12/162/16–21

क्षमा ::-

हमारे ग्रन्थों में जहाँ-जहाँ धर्म का कथन किया गया है, वहाँ वहाँ क्षमा को महत्वपूर्ण रूप से उल्लिखित किया गया है। क्षमा धर्म का ही एक महत्वपूर्ण अंग है।

महाभारत महाकाव्य में ऐसे अनेक अंश है, जिनके सन्दर्भ देकर क्षमा के स्वरूप का आकलन किया जा सकता है।

जब पाण्डव जुए में हारकर वन को चले गये, तब धृतराष्ट्र ने पूर्णतः संतुष्ट हो अगाधबुद्धि धर्मात्मा विदुर को बुलाकर अपने पुत्रों व पाण्डवों के हितकर कार्यों के विषय में पूछा, तब विदुर जी ने धृतराष्ट्र से कहा कि आपके पुत्र तथा शकुनि ने पाण्डवों को कपटपूर्ण ढंग से पराजित किया है।

यदि दुर्योधन को काबू में करके आप पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर को राज्य पर अभिषिक्त कर दें, दुःशासन भरी सभा में द्रौपदी से क्षमा याचना करें तो आपके पुत्रों व आपके द्वारा किए गए पाप का यही प्रायश्चित होगा।

ये सुनकर धृतराष्ट्र क्रोध से लाल हो गये और उन्होंने विदुर जी का अपमान कर तिरस्कार कर दिया।[१]

---

1. दुर्योधनं त्वहितं वै निग्रह्य, पाण्डोः पुत्रं कुरूष्वाधिपत्ये।
   अजातशतुर्हि विमुक्तरागो धर्मेणेमा पृथिवीं शास्तु राजन्।।
   दुःशासनो याचतु भीमसेनं सभामध्ये द्रुपदस्यात्मजां च।

   समां जिह्मं विदुर सर्वेब्रवीषि मानं च तेऽमधिकं धारयामि।
   यथेच्छकं गच्छ वा तिष्ठ वा त्वं सुसान्त्व्यमानाप्यसती स्त्री जहाति।।
   महा.- 3/4/14, 16, 21

विदुर जी हस्तिनापुर छोड़कर पाण्डवों के पास काम्यक वन को चले गए। ये जानकर धतृराष्ट्र को अपने किए का पाश्चाताप हुआ। उन्होंने शीघ्र ही संजय को बुलाकर विदुर को लाने का आदेश दिया। तब संजय विदुर को अपने साथ वापस हस्तिनापुर लेकर आये।

राजा धृतराष्ट्र ने विदुर से अपने द्वारा कहे गए अपशब्दों के लिए क्षमा याचना की, और सहृदय विदुर ने उन्हें क्षमा कर दिया।[1]

इसी प्रकार एक अन्य सन्दर्भ और भी, जब द्रौपदी युधिष्ठिर को बलि-प्रह्लाद संवाद के द्वारा क्षमा का विस्तृत स्वरूप बताती हैं।

---

1. स व्यलीकं परं प्राप्तो मत्तः परमबुद्धिमान्।
त्यक्ष्यामि जीवितं प्राज्ञ तं गच्छानय संजय।।
सोऽङ्कमानीय विदुरं मूर्धन्याधाय चैव ह्।
क्षम्यतामिति चोवाच यदुक्तोऽसि मयानघ।।

क्षान्तमेव मया राजन् गुरूर्मे परमो भवान्।
एषोऽहमागतः शीघ्रं त्वदर्शन परायणः।।
महा.– 3/6/10, 21, 22

वे कहती हैं कि एक बार बलि ने अपने पितामह प्रहलाद जी से पूछा कि तप व क्षमा में क्या श्रेष्ठ है? प्रहलाद ने, न तेज ही सदा श्रेष्ठ है और न क्षमा ही, ऐसा उत्तर देते हुए क्षमा के स्परूप व उसके अवसरों का उल्लेख किया । उन्होंने कहा– जो सदा क्षमा ही करता है उसे अनेक दोष प्राप्त होते हैं। उसके भृत्य, शत्रु तथा उदासीन व्यक्ति सभी उसका तिरस्कार करते हैं। स्वामी का जितना आदर होना चाहिए, उतना आदर वे किसी प्रकार भी नहीं करते। क्षमाशील को सेवक पुत्र, भृत्य कटुवचन कहते हैं। इस संसार में सेवकों द्वारा अपमान तो मृत्यु से भी निन्दित है।

अतः विद्वानों के लिए सदा क्षमा करना भी वर्जित है।[१]

---

1. यो नित्यं क्षमते तात बहून् दोषान् सविन्दति।
भृत्याः परिभवन्त्येनमुदासीनास्तथारयः।।
सर्वभूतानि चाप्यस्य न नमन्ति कदाचन्।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पण्डितैरपि वर्जिता।

न चैनं भतृपूजाभिः पूजयन्ति कथंचन।
अवज्ञान ही लोकऽस्मिन् मरणादपि गर्हितम्।।

महा.– 3/28/7, 8, 12

इसके पश्चात् प्रहलाद् क्षमा न करने वाले मनुष्यों के दोषों को बताते हुए कहते हैं। कि जो क्रोधी मनुष्य रजोगुण से आवृत्त होकर अपने उग्रस्वभाव से लोगों को दण्ड देता है, वह मनुष्य साधारण लोगों व स्वजनों का द्वेषपात्र बन जाता है। वह मनुष्य दूसरों का अपमान करने के कारण सदा धन की हानि उठाता है। उपालम्भ सुनता और अनादर पाता है।

मनुष्य क्रोधवश अन्याय पूर्वक दूसरे लोगों पर नाना प्रकार के दण्ड का प्रयोग करके अपने ऐश्वर्य, प्राण और स्वजनों से भी हाथ धो बैठता है।[१]

इसलिए मनुष्य न ही सदा उत्तेजना का प्रयोग करें और न ही सर्वदा क्षमाशील बना रहें।

---

1. अस्थाने यदि वा स्थाने सततं रजसाऽऽवृतः।
क्रुद्धो दण्डान् प्रणयति विविधान् स्वेन् तेजसा।।

क्रोधाद् दण्डान्मनुष्येष विविधान् पुरूषोऽनयात्।
भ्रश्यते शीघ्रमैश्वर्यात् प्राणेभ्यः स्वजनादपि।।

महा.– 3/28/17, 20

तदन्तर राजा बलि से पितामह प्रहलाद् ने क्षमा के अवसरों का उल्लेख किया कि:-

जिसने पहले कभी तुम्हारा उपकार किया हो, उससे कोई भारी अपराध होजाये तो पहले के उपकार का स्मरण कर अपराधी के उस अपराध को क्षमा कर देना चाहिए।

जिन्होंने अनजान में अपराध कर डाला हो, उनका वह अपराध क्षमा के योग्य ही है।[1]

सभी प्राणियों का प्रथम अपराध क्षमा कर देना चाहिए, यदि उससे पुनः अपराध हो जाये तो दण्डित अवश्य करना चाहिए। मनुष्य कोमल भाव के द्वारा उग्र स्वभाव तथा शान्त स्वभाव के द्वारा शत्रु का भी नाश कर देता है, मृदुता से कुछ भी असाध्य नहीं है।[2]

---

1. पूर्वोपकारी यस्ते स्यादपराधे गरीयसि।
   उपकारेण तत् यस्य क्षन्तव्यमपराधिनः।।
   अबुद्धिमाश्रितानां तु क्षन्तव्यमपराधिनाम्।
   न हि सर्वत्र पाण्डित्यं सुलभं पुरूषेण वै।

2. सर्वस्यैकोऽपराधस्ते क्षन्तव्यः प्राणिनो भवेत्।
   द्वितीये सति वहयस्तु स्वल्पेऽप्यपकृते भवेत्।।

   महा.– 3/28/26, 27, 29

एक अन्य स्थान पर द्रौपदी युधिष्ठिर से कहती हैं कि कौरवों के प्रति क्षमा का कोई अवसर नहीं है अतः उन पर आपको अपने तेज का प्रयोग कर ना चाहिए। किन्तु युधिष्ठिर क्षमाभाव की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि पुरूष को सभी आपत्तियों में क्षमाभाव रखना चाहिए। जो बलवान पुरूष के गाली देने या कुपित होकर मारने पर भी क्षमा कर जाता है तथा जो सदा अपने क्रोध को काबू में रखता है, वही विद्वान् है, वही श्रेष्ठ पुरुष है।[१]

क्षमावान गाथा का महर्षि काश्यप ने भी उल्लेख किया है– क्षमा धर्म है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा वेद है और क्षमा शास्त्र है। जो ऐसा जानता है, वह सब कुछ क्षमा करने योग्य हो जाता है। क्योंकि क्षमा ब्रह्म है, क्षमा तप है, क्षमा शौच है। क्षमा ने ही सम्पूर्ण जगत को धारण किया है।[२]

---

1. क्षन्तव्यं पुरूषेणेह सर्वापत्सु सुशोभने।
   क्षमावतो हि भूतानां जन्म चैव प्रकीर्तितम्।।
   आक्रुष्टस्ताडितः क्रुद्धः क्षमते यो बलीयसा।
   यश्च नित्यं जितक्रोधो विद्वानुत्तमपूरूषः।।

2. क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम्।
   य एतदेवं जानाति स सर्वे क्षन्तुर्महति।।
   क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च।
   क्षमा तपः क्षमा शौचं धृतं जगत्।।

महा.– 3/29/32, 33–36, 37

क्षमा का महत्त्व बताते हुए युधिष्ठिर कहते हैं– क्षमाशील मनुष्य यज्ञवेत्ता, ब्रह्मवेत्ता और तपस्वी पुरूषों से भी ऊँचे लोक प्राप्त करते हैं।

क्षमावानों के लिए ही ये लोक व परलोक हैं। क्षमावान पुरुष इस जगत में सम्मान व परलोक में उत्तम गति प्राप्त करता है। जिन मनुष्यों का क्रोध सदा क्षमाभाव से दबा रहता है, उन्हें सर्वोत्तम लोक प्राप्त होता हैं। अतः क्षमा सबसे उत्कृष्ट मानी गयी है।[१]

क्षमा और दया यही जितात्मा पुरुषों का सदाचार है और यही सनातन धर्म है। अतः मैं यथार्थ रूप से क्षमा और दया को ही अपनाऊँगा।[२]

---

1. अति यज्ञविदां लोकान् क्षमिणः प्राप्नुवन्ति च ।
   अति ब्रह्मविदां लोकानति चापि तपस्विनाम्।।
   क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम्।
   इह सम्मानमृच्छन्ति परत्र च शुभां गतिम्।।
   येषां मन्युर्मनुष्याणां क्षमायाभिछतः सदां।
   तेषां परतरे लोकास्तस्मात् क्षान्ति परा मता।।

2. एतदात्मवतां वृत्तमेष धर्मः सनातनः।
   क्षमा चैवानृशंस्यं च तत् कतस्म्यिहमञ्जसा।।
   महा.– 3/29/38, 43, 44, 52

विद्या ::-

'विद् ज्ञाने' धातु से निर्मित यह शब्द उस ज्ञान की ओर संकेत करता जो ज्ञान मनुष्य को यथार्थ दृष्टि प्रदान करता है तथा जिससे मनुष्य संसार का सुख तथा आलौकिक सुख में भेदकर आलौकिक दृष्टि से सम्पन्न हो जाता है। ऐसी विद्या को ही धर्म का अंग माना जाता है। और इसी विद्या से सामान्य जन अपने जीवन को सार्थक कर पाता है। महर्षि पंतजलि ने इसी दृष्टि से योगदर्शन में कहा है कि योगांगों के अनुष्ठान से अशुद्धि का नाश होने पर विवेक ज्ञान और इससे दृश्य तथा दृष्टा का भेद स्पष्ट हो जाता है।[१]

महाभारत में एक स्थान पर वशिष्ठ जी ने राजा जनक को जो विद्या और अविद्या का ज्ञान दिया है, वह अन्यत्र दुर्लभ भी है। राजा जनक के पूछने पर विद्या का स्वरूप बताते हुए वशिष्ठ जी बोले, समस्त कर्मेन्द्रियों की विद्या ज्ञानेन्द्रियाँ मानी जाती है अर्थात् कर्मेन्द्रियों से ज्ञानेन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं और ज्ञानेन्द्रियों की विद्या पंच महाभूत है।[२]

---

1. पा. यो. प्र., पृ. 361

2. कमेन्द्रियाणां सर्वेषांविद्या बुद्धीन्द्रियं स्मृतम्।
बुद्धीन्द्रियाणां च तथा विशेषा इति नः श्रुतम्।।

महा.– 12/307, 4

स्थूल पंचभूतों की विद्या मन है, और मन की विद्या सूक्ष्म पंचभूत हैं। उन सूक्ष्म पंचभूतों की विद्या अहंकार है। इसमें कोई संशय नहीं है तथा अहंकार की विद्या बुद्धि मानी गयी है।[१]

वशिष्ठ जी पुनः कहते हैं–अव्यक्त नामावाली जो परमेश्वरी प्रकृति है, वह सम्पूर्ण तत्वों की विद्या है। यह विद्या जानने योग्य है। इसी को ज्ञान की परमविधि कहते हैं।

पचीसवें तत्त्व के रूप में जिस परम पुरुष परमात्मा की चर्चा की गयी है, उसी को अव्यक्त प्रकृति की परमविद्या बताया गया है। वही सम्पूर्ण ज्ञान का सर्वरूप ज्ञेय है।[२]

इस प्रकार विद्या और अविद्या के यथार्थ रूप का वशिष्ठ जी ने वर्णन किया है।

---

1. विशेषाणां मनस्तेषां विद्यामाहुर्मनीषिणः।
मनसः पंञ्च भूतानि विद्या इत्यभिचक्षते।।
अहंकारस्तु भूतानां पंञ्चानां नात्र संशयः।
अहंकारस्य च तथ बुद्धिर्विद्या नरेश्वरः।।

2. विद्या प्रकृतिरव्यक्तं तत्वानां परमेश्वरी।
विद्या ज्ञेया नरश्रेष्ठ विधिश्च परमः स्मृतः।।
अव्यक्तस्य परं प्राहुर्विद्यां वै पंचविंशकम्।
सर्वस्य सर्वमित्युक्तं ज्ञेयं ज्ञानस्य पार्थिव।।

महा.– 12/307, 5, 6, 7, 8

विद्या और विवेक दृष्टि का यह स्वरूप पितामह भीष्म के उपदेश में भी देखा जा सकता है, जो उन्होंने युधिष्ठिर को दिया था। उनके अनुसार जो सदा ज्ञान तत्व के चिन्तन में संलग्न रहने वाला शुभ और अशुभ कर्मों को देखने वाला तथा निवृत्ति परायण मुनि है, वही उस परमगति को प्राप्त होता है।[1]

इस प्रकार विचारशील पुरूष को चाहिए कि वह पहले अव्यक्त (प्रकृति) और पुरुष (जीवात्मा) इन दोनों का ज्ञान प्राप्त करे फिर इन दोनों में श्रेष्ठ जो परम महान पुरुषोत्तम तत्त्व है उसका विशेष रूप से ज्ञान प्राप्त करे।[2]

पितामह ने ये भी उपदेश दिया कि जो मनुष्य दिव्य सम्पत्ति अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहे उस देहधारी पुरूष को अपना मन शुद्ध रखना चाहिए और शरीर से कठोर नियमों का पालन करते हुए निर्दोष तप का अनुष्ठान करना चाहिए।[3]

---

1. तां गतिं परमामेति निवृत्तिपरमो मुनिः।
   ज्ञान तत्वपरो नित्यं शुभाशुभ निदर्शकः।।

2. तदेवमेतौ विज्ञेयावव्यक्त पुरूषावुभौ।
   अव्यक्त पुरूषाभ्यां तु यत् स्यादन्यन्महत्तरम्।।
   तं विशेषमवेक्षेत विशेषेण विचक्षणः।

3. श्रियं दिव्यामभिप्रेप्सुर्वर्ष्मवान् मनसाशुचिः।
   शारीरैर्नियमैरूग्रैश्चरेन्निष्कल्मषं तपः।।

महा.– 12/217/5, 6, 7, 14

इसी प्रकार महाभारत के अन्तर्गत गीता उपदेश में भगवान श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया उपदेश भी विद्या-ज्ञान, योग सांख्य की ओर निर्देश करता है।

श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं- हे अर्जुन ! निश्चय करने की शक्ति, यथार्थ ज्ञान, असंमूढ़ता, क्षमा, सत्य, इन्द्रियों का वश में करना, मन का निग्रह तथा सुख-दुःख, उत्पत्ति, प्रलय और भय-अभय तथा अहिंसा, समता संतोष, तप, दान, कीर्ति, अपकीर्ति, ऐसे ये प्राणियों के नाना प्रकार के भाव मुझसे ही होते हैं।[१]

सप्तर्षि, उनसे पूर्व हुए सनकादि, स्वायम्भुव आदि चौदह तथा मनु सभी मुझसे ही उत्पन्न हैं, जिनकी संसार में यह सम्पूर्ण प्रजा है। जो मनुष्य मेरी इस परमैश्वर्यरूप विभूति व योग शक्ति को तत्त्व से जानता है, वह निश्चल भक्ति योग से युक्त होकर मुझे प्राप्त होता है।[२]

---

1. बुद्धिर्ज्ञानिम सम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
   सुखं दुखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।।
   अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
   भवन्ति भावा भूतानां मप्त एव पृथग्विधाः।।

2. महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
   मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।।
   महा0- 6/34/4,5,6

महाभारत में एक स्थान पर पितामह ने युधिष्ठिर को उपदेश हुए भगवद् भक्ति को ही प्रधान बताया है।

वे युधिष्ठिर से कहते हैं कि जो भक्त पुरूष यहाँ इन भगवान श्री हरि-नारायण देव की शरण लेते हैं, वे दुस्तर संकटों से तर जाते हैं।[1] जो इन कमलनयन भगवान् श्री कृष्ण को सम्पूर्ण भक्ति भाव से अपने सारे कर्म समर्पित कर देते हैं, वे दुर्गम कठिनाइयों को लाँघ जाते हैं।[2]

सामान्य धर्म का स्वरूप इसी तरह से प्रकट हैं जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अर्जुन से कहते हैं कि जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में मुझ वासुदेव को देखता है, और मुझ वासुदेव के अन्तर्गत सम्पूर्ण भूतों को देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य नहीं हूँ तथा वो मनुष्य मेरे लिए अदृश्य नहीं है।[3]

---

1. य एनं संश्रयन्तीह भक्ता नारायणं हरिम्।
   ते तरन्तीह दुर्गाणि न चात्रास्ति विचारणा ।।

2. अस्मिन्नर्पित कर्माणः सर्वभावेन भारत।
   कृष्णे कमलपत्राक्षे दुर्गाण्य तितरन्ति ते।।
   महा0–12/110/28

3. यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
   तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।
   महा0– 6/30/30

(ख) विशेष धर्म-

आचार्य कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ में धर्म के दो भेदों का संकेत किया है। एक धर्म तो सामान्य धर्म है जो सभी के द्वारा पालनीय है। इसमें अहिंसा, सत्य, शौच, अनसूया, अनृशंसता सम्मिलित है।[1]

दूसरे धर्म के रूप में आचार्य ने कहा है कि त्रयी धर्म अर्थात् वैदिक धर्म चारों वर्णों और चारों आश्रमों के द्वारा पालनीय होने के कारण सभी का कल्याण निश्चित रूप होता है।[2]

इस रूप में आचार्य कौटिल्य जब वर्णों के धर्मों का कथन करते हैं तब वे ब्राह्मण के लिए उनके धर्म का आख्यान करते हुए कहते हैं कि अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रह ब्राह्मण के धर्म है।[3]

यह निर्विवाद रूप से कथन करने योग्य है कि प्राचीन समय में ब्राह्मण की श्रेष्ठता अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक महत्त्व से कही गई है। इसलिए ब्राह्मणों के कर्तव्यों का कथन करते हुए सर्वप्रथम तो यही कहा गया है कि वह अक्षर वेत्ता है। अक्षर का अभिप्राय विद्याज्ञान और ईश्वरीय ज्ञान दोनों से हो सकता है। उपनिषद् में एक स्थान पर यह कथन है कि जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता (अक्षरवेत्ता) हो वह एक हजार गौंए प्राप्त करें।[4]

---

1. सर्वेषां अहिंसासत्यमनसूया आनृशंस्यं क्षमा च। कौ.अ.पृ.-14

2. एष त्रयीधर्मश्चतुर्णां वणीनामाश्रमाणां च स्वधर्मस्थापनादौपकारिकः। वही पृ.-12

3. स्वधर्मो ब्राह्मणस्याध्ययमध्यापनं यजनं याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति। वही पृ0-12

4. तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मनिष्ठः स एता मा उद्वतानिति।
ई.द्वा.उ.- पृ0 317

इसी प्रकार से ब्राह्मण का सत्याचरण भी विशेष रूप से दृष्टव्य होता था। उसके जीवन में सत्य का पालन विशेष उदाहरणीय है, जो सत्य का पालन विशेष रूप से करता था।

सत्यकाम जाबालि का आख्यान इसी रूप में उदाहरणीय है जिसमें उसने अपने पिता का परिचय न होने पर भी सत्य स्वीकार कर अपनी माता का नाम ही कहा था।

जाबालि के इस प्रकार सत्य कहने पर ऋषि गौतम ने कहा था कि ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा सत्य नहीं बोल सकता।[१]

इस महाभारत महाकाव्य में ब्राह्मण के लिए जिन धर्म रूप कर्त्तव्यों को कहा गया है, वे एक प्रकार से उसके लिए श्रेष्ठ कार्य ही हैं। ब्राह्मण का धर्म वेदों का स्वाध्याय, यज्ञ और दान है। वेदों को पढ़ाना, यजमान का यज्ञ कराना, और दान लेना ये उसकी जीविका के साधनभूत कर्म हैं। सत्य, मनोग्रिह, तप और शौचाचार का पालन ये उसका सनातन धर्म हैं, तथा रस व धान्य का विक्रय ब्राह्मण के लिए निन्दित है।[२]

---

1. छन्दो. पृ0 – 384

2. स्वाध्यायो यजनं दानं तस्य धर्म इति स्थितिः।
   कर्माण्यध्यापनं चैव याजनं च प्रतिग्रहः।।
   सत्यं शान्ति स्तपः शौचँ तस्य धर्म सनातनः।
   महा0– 13/141/29

महाभारत महाकाव्य में ब्राह्मण के उन सामान्य धर्मों का कथन भी है जिनका उल्लेख अन्यत्र दुर्लभ ही है।

ब्राह्मणों को यज्ञ, वेदों का अध्ययन, किसी की चुगली न करना, किसी प्राणी को मन, वाणी और क्रिया द्वारा क्लेश न पहुँचना, अतिथियों का पूजन करना, इन्द्रियों को संयमित रखना, सच बोलना, तप करना, दान देना ये सभी कृत्य करने चाहिए।[१]

इसके अतिरिक्त जो मन और इन्द्रियों को संयम में रखने वाला, सोमयाग करके, सोमरस पान करने वाला, सदाचारी, दयालु, सहनशील, निष्काम, सरल, मृदु, क्रूरता रहित और क्षमाशील हो, वही ब्राह्मण है।[२]

अतः ब्राह्मण की श्रेष्ठता का सम्भवतः यही कारण भी है कि वह उन श्रेष्ठ गुणों का धारक और वाहक होता है। जो मनुष्य के श्रेष्ठतम गुण हैं और जो संस्कारों की श्रेष्ठता के प्रतिमान भी हैं।

---

1. यज्ञः श्रुतम पैशुन्यमहिंसातिथि पूजनम।
   दमः सत्यं तपो दानमेतद् ब्राह्मणलक्षणम्।।
   महा0– 12/76/14

2. यः स्याद् दान्तः सोमपश्चार्यशीलः सानुक्रोशः सर्वसहो निराशीः।
   ऋजुर्मृदुरनृशंसः क्षमावान् स वै विप्रो नेतरः पापकर्मा।।
   महा0– 12/63/8

'क्षत्रिय'-

क्षत्रिय के कर्त्तव्य रूप धर्म में यह कहा गया है कि वह अध्ययन करेगा, दान देगा तथा शास्त्रों के माध्यम से अपनी जीविका चलाकर समाज की रक्षा में अपना जीवन व्यतीत करेगा।[१]

क्षत्रिय के संदर्भ में ये भी कहा गया है कि वह भगवान् की भुजाओं से उत्पन्न हुआ है, इसलिए शक्ति का प्रदर्शन और लोक रक्षण उसका दायित्व है। क्षत्रिय की महत्ता इतनी है कि राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण क्षत्रिय से नीचे बैठ कर उपासना करते हैं और इसी से ब्रह्मभाव का अनुभव करते हैं।[२]

क्षत्रिय के कर्त्तव्य ही उसके धर्म हैं। यह संकेत महाभारत महाकाव्य में किया गया है। शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध में न भागना, दान देना और स्वाभिभाव ये सबके सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं। यही उनके श्रेष्ठ धर्म हैं।[३]

---

1. क्षत्रियस्याध्ययनं यजनं – याजनं दानं शस्त्राजीवो भूतरक्षणं च।
   कौ. अ.– पृ0 12

2. ई. द्वा. उ. – पृ0 281

3. शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
   दानमीश्वर भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।
   महा0– 6/42/43

एक अन्य स्थान पर ये संकेत मिलता है कि युद्ध ही क्षत्रियों के लिए प्रधान है। उसके लिए लुटेरों के संहार से बढ़कर दूसरा कोई श्रेष्ठतम कर्म नहीं है। यद्यपि दान, अध्ययन और यज्ञ इनके अनुष्ठान से भी राजाओं का कल्याण होता है, तथापि युद्ध उनके लिए सबसे बढ़कर है। अतः विशेष रूप से धर्म की इच्छा रखने वाले राजा को सदा ही युद्ध के लिए उद्यत रहना चाहिए।[1]

राजा को चाहिए कि वह सदा दण्डनीति को सामने रखकर उसके द्वारा अप्राप्त वस्तु को पाने की इच्छा करे और प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा करे। इसके द्वारा प्रजा के योगक्षेम सिद्ध होते हैं।[2]

अतः क्षत्रिय का वर्ण धर्म प्रमुख रूप से प्रजा की रक्षा करना ही है। अन्य उसके कर्त्तव्य उसके जीवन से जुड़े हुए हैं जो उसके लिए धर्म हैं।

---

1. एवं हि क्षत्रबन्धूनां मार्गमाहुः प्रधानतः।
नास्य कृत्यतमं किंचिदन्यद् दस्युनिर्वहणात्।।
दानमध्ययनं यज्ञो राज्ञां क्षेमो विधीयते।
तस्माद् राज्ञा विशेषेण योद्धव्यं धर्ममीप्सता।। महा0– 12/60/ 17,18

2. दण्डनीतिं पुरस्कृत्य विजानन् क्षत्रियः सदा।
अनवाप्तं च लिप्सेत लब्धं च परिपालयेत्।।
महा0– 12/69/102

'वैश्य'-

द्विजाति में जन्म लेने के कारण वैश्य का महत्व भी अनेकशः प्रतिपादित किया गया है। जैसे- एक स्थान पर कहा गया है कि ब्रह्म के द्वारा जब सृष्टि का विस्तार किया गया तो यह विचार किया गया कि वह अपने ऐश्वर्य का प्रकटीकरण बिना वैश्य के नहीं कर सकता, इसलिए उसने वैश्य की उत्पत्ति की। वैश्यों में द्विजातित्व प्रभावित है इसलिए यह संकेत है कि जो वैश्यकुल में जन्म लेता है तो उसका आचरण अच्छा होता है।[१]

वैश्य के सन्दर्भ में स्मृतिकारों ने जो संकेत किये हैं, तदनुसार यह कहा जाता है कि वैश्य को पशुओं का पालन करना चाहिए। खाद्य पदार्थों का संरक्षण करना चाहिए, दान देने में अपनी प्रवृत्ति रखनी चाहिए, यज्ञ करने में रुचि होनी चाहिए। विद्याध्ययन के साथ वैश्य को कृषि कर्म भी करना चाहिए।[२]

---

1. छान्दो. – पृ0 529

2. पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
   वाणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।।
   म0 स्मृ0 – पृ0 18

महाभारत महाकाव्य में वैश्य के जिन कर्त्तव्यों का उल्लेख है, उनमें प्रमुख पशुओं का पालन, खेती, व्यापार, अग्निहोत्र कर्म, दान, अध्ययन और सन्मार्ग का आश्रय लेकर सदाचार का पालन, अतिथि सत्कार, शम, दम, ब्राह्मणों का स्वागत और त्याग है। ये वैश्यों के धर्म भी हैं।[१]

आचार्य कौटिल्य ने वार्ता विद्या को वैश्यों का प्रमुख धर्म बताते हुए यह कहा है कि आन्वीक्षिकी, त्रयी, दण्डनीति की तरह से वार्ता भी एक विद्या है।[२]

ये कृषि, पशुपालन, वाणिज्य के रूप में जानी जाती है। यह विद्या धान्य, पशु, हिरण्य, ताम्र आदि खनिज पदार्थों तथा सेवक-सेविकाओं को देने वाली होने के कारण उपकारिणी है।[३]

---

1. **वैश्यस्य सततं धर्मः पाशुपाल्यं कृषिस्तथा।**
   अग्निहोत्र परिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च।।
   महा0– 13/141/54

2. **वैश्यस्तु वार्ता वृत्तिश्च नित्यं ब्रह्मकुलानुगाः।**
   कौ. अ. – पृ0 10

3. **कृषिपशुपाल्येवाणिज्या च वार्ता। धान्यपशु हिरण्यकुप्यविष्टिं प्रदानादौपकारिकी।**
   वही– पृ0 15

इस रूप में यदि विचार किया जावे तो कहना संगत प्रतीत होता है कि वार्ता विद्या के अन्दर वे सभी वैश्य कर्त्तव्य भी आते हैं जिनमें समाज का परम उपकार होता है। भारतीय सन्दर्भ में तो यह और भी महत्वपूर्ण इसलिए हो जाता है क्योंकि कृषि से ही यहाँ का सम्पूर्ण समाज व जीवन चलता है। जिस विद्या से सम्पूर्ण समाज का उपकार हो तो वह धर्म है ही।

इसलिए वैश्य के कर्त्तव्य ऐसे कर्म है जो उसके वर्ण के परम धर्म भी हैं और समाज के लिए परम उपकारक भी हैं।

"शूद्र"

यद्यपि शूद्र को आज भी हीनता की दृष्टि से देखा और कहा जाता है किन्तु प्राचीन व्यवस्था में उसमें किसी तरह की भी हीनता का संकेत नहीं मिलता है। शूद्र के विषय में कहा गया है कि जब सृष्टि कर्ता ने वैश्यों के लिए कृषि कार्य का निर्धारण किया तब यह आवश्यक हो गया था कि इसमें कार्य करने के लिए श्रमकर्मी भी चाहिए। अतएव शूद्रों के कर्त्तव्यों को श्रम के साथ जोड़ा गया।

देवता के रूप में पूषा देवता की कल्पना शूद्र देव की कल्पना है और पूषा के लिए यह कहा गया है कि वह सभी वर्णों का पोषण करता है इसलिए पोषण करने से इसका महत्त्व अधिक है।[१]

शूद्र के कर्त्तव्यों में आचार्य मनु ने कहा है कि यह सभी वर्णों की सेवा करेगा।[२]

आचार्य कौटिल्य ने अवश्य यह संकेत किया है कि शूद्र द्विजाति की सेवा के साथ-साथ गायन, वादन आदि का कार्य भी करेगा।[३]

---

1. स नैव व्यभवत् स शूद्रवर्णम सृजत् पूषणमियं वै पंषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किं च।
   ई0 द्वा0 उ0 – पृ0 281–282

2. म0 स्मृ0– पृ0 18

3. कौ0 अ0 – पृ0 13

महाभारत महाकाव्य में यह निरूपित किया गया है कि शूद्र यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की क्रम से न्याय पूर्वक सेवा करके इन्हें संतुष्ट करता है तो वह व्यथा से रहित हो पापों से मुक्त होकर देह-त्याग के पश्चात् स्वर्गसुख का उपभोग करता है।[1]

---

1. ब्रह्म क्षत्रं वैश्यवर्णे च शूद्रः, क्रमर्णेतान् न्यायतः पूजयानः तुष्टेष्वेतेष्वत्यथो दग्धपापस्तयक्त्वा देह स्वर्गसुखानि भुडक्ते।
   महा0– 5/40/28

"आश्रम धर्म"

आश्रम शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जिस स्थान पर पहुँचकर व्यक्ति अपने कर्त्तव्य रूप धर्म के पालन के लिए श्रम करे, वह आश्रम है।[1]

इस रूप में मनुष्य के चार आश्रमों का कथन किया गया है। ये आश्रम हैं- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। इन आश्रमों में रहकर अपना जीवन व्यतीत करता हुआ व्यक्ति अपने-अपने लिए निर्धारित कर्म का सम्पादन करता था और वही कर्म उसके जीवन के धर्म होते थे। इन आश्रमों के कर्मों से ही व्यक्ति अपने जीवन में श्रेय तथा प्रेय की प्राप्ति कर पाता था। इसलिए इन्हें धर्म भी कहा जाता है। कई स्थल ऐसे हैं जहाँ पर यह कहा जाता है कि आश्रम कार्य धर्म कार्य धर्मरूप है।

ब्रह्मचर्याश्रम धर्म-

इस आश्रम का प्रचलन प्राचीन काल से था। क्योंकि ऋग्वेद में ब्रह्मचर्य की अवस्था का संकेत करने वाले शब्द ब्रह्मचारीनिरता है।[2]

इसके साथ ही इसके महत्व के विषय में यह संकेत है कि आचार्य उपनयन संस्कार के बाद ब्रह्मचारी को अपना अन्तेवासी बनाता है और ब्रह्मचर्य के द्वारा ही देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की।[3]

---

1. यद् वा आ समन्ताछ्रमो वा। स्वधर्म साधनक्लेशात्। वै.शा.सं.- पृ0 175

2. ब्रह्मचारी चरित वेविषद् विषः सः देवानां भवत्येकः मंगलम्। ऋग0-10/109/15

3. अथर्व.- 11/5/3

महाभारत महाकाव्य में ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि ब्रह्मचारी को बाहर भीतर की शुद्धि वैदिक संस्कार तथा व्रत नियमों का पालन करते हुए अपने मन को वश में रखना चाहिए। सुबह-शाम दोनों सन्ध्याओं के समय सन्ध्योपसना, सूर्योपस्थान और अग्निहोत्र से अग्नि देव की आराधना करनी चाहिए।

तन्द्रा और आलस्य को त्याग कर प्रतिदिन गुरु को प्रणाम करे और वेदों के अभ्यास तथा श्रवण से अपनी अन्तरात्मा को पवित्र करे। सबेरे -शाम और दोपहर तीनों समय स्नान कर ब्रह्मचर्य का पालन करे, अग्नि की उपासना और गुरु की सेवा करे।

प्रतिदिन भिक्षा मांगकर लाये। भिक्षा में जो कुछ प्राप्त हो, वह सब गुरु को अर्पण कर दे। अपनी अन्तरात्मा को भी गुरु के चरणों में निछावर कर दे। गुरु जी जो कुछ कहें, जिसके लिए संकेत करें और जिस कार्य के निमित्त स्पष्ट शब्दों में आज्ञा दें, उसके विपरीत आचरण न करे। गुरु की कृपा प्रसाद से मिले हुए स्वाध्याय में तत्पर होवे।[1]

---

1. गुरुकुलवासमेव प्रथमुमाश्रम मुदाहरन्ति। सम्यक यत्र शौच संस्कार नियमव्रतविनयतात्मा उभे संध्ये भास्कराग्नि दैवतान्युपस्थाय बिहाय तन्द्रयालस्ये गुरोरभिवादन वेदाभ्यास श्रवण पवित्रीकृतान अन्तरात्मा तिषवणमुपस्प्रश्य ब्रह्मचर्याग्निपरिचरण गुरू शुश्रूषानि। त्यर्भिक्षा भैक्ष्यादि सर्वनिवेदितान्तरात्मा गुरू वचननिर्देशानुष्ठान प्रतिकूलो गुरूप्रसाद लब्धस्वाध्याय तत्परः स्यात्।

महा.– 12/191/8

ब्रह्मचर्याश्रम मनुष्य जीवन का प्रथम आश्रम है। इसलिए इसमें जो कर्त्तव्य निर्धारित थे, वे एक प्रकार से मनुष्य जीवन के नींव के पत्थर जैसे थे।[1]

इस सम्बन्ध में अन्यत्र यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी मितभुक्त हो, अल्पभाषी हो और अल्पनिद्रा लेने वाला हो, वह कभी स्त्री विषयक बात न करे, जिससे उसके मन में राग उत्पन्न होने की सम्भावना रहे। इस प्रकार की साज-सज्जा न करें। वह सदा सत्य का भाषण करे और कभी भी किसी अवस्था में असत्य का आचरण न करें।[2]

---

1. छान्दो. पृ.– 215

2. अभ्यंगनं अंजनं चक्षणोरूपानह छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्।।
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालभ्भुपातं परस्य च।।

म. स्मृ.– 2/177–180

महाभारत में उल्लेख मिलता है कि गुरू की सेवा तथा ब्रह्मचर्य का पालन, इन तीन कर्मों के साथ-साथ वेदाध्ययन का कार्य सम्पन्न करना चाहिए। हवन कर्म द्वारा देवताओं के और तर्पण द्वारा वह पितरों के ऋण से मुक्त होने के यत्न करें। किसी के दोष न देखे, और संयमपूर्वक रहकर वेदाध्ययन समाप्त करने के पश्चात् गुरू को दक्षिणा दे और उनकी आज्ञा लेकर समावर्तन संस्कार के पश्चात् घर को लौटे।[1]

ब्रह्मचर्याश्रम के नियम यद्यपि अध्ययन-अध्यापन की श्रेष्ठ परम्परा के रक्षण के लिए मुख्य रूप से निर्धारित हैं, तथापि हम यह देख सकते हैं कि ब्रह्मचारी के लिए सत्य बोलना, विद्या ग्रहण करना और स्त्री प्रसंग से दूर रहकर आचार्य की सेवा करना ऐसे कर्त्तव्य हैं, जो व्यक्ति के परम धर्म बन सकते हैं। ब्रह्मचारी ही नहीं अपितु कोई भी व्यक्ति यदि केवल सत्य का आश्रय अपने जीवन में ले ले तो वह धर्म का पूर्ण पालन करने वाला ही माना जायेगा, क्योंकि 'सत्यान्नास्ति परोधर्मः' जैसे वाक्य इस देश की धर्म परिभाषा के परम निर्देशक हैं।

---

1. तपसा गुरूवृत्या च ब्रह्मचर्येण वा विभो।
देवतानां पितृणां चाप्यमृणो ह्यनसूयकः।।
वेदानधीत्य नियतो दक्षिणामपवर्ज्य च।
अभ्यनुज्ञामथ प्राप्य समावर्तेत वै द्विजः।।

महा.– 12/326/15, 16

"गृहस्थ धर्म"

मनुस्मृतिकार ने कहा है कि ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न हो जाने पर गुरू की अनुमति लेकर सभी लक्षणों से युक्त कन्या के साथ विवाह करें।[१] इसी के साथ इस आश्रम के महत्व प्रतिपादन में यह निरूपित है कि जिस प्रकार सभी नद और नदी सागर की ओर जाते हैं, उसी प्रकार से सभी आश्रमवासी आश्रम प्राप्त करने के लिए गृहस्थ की ओर जाते हैं।[२]

गृहस्थ की श्रेष्ठता का कथन करने के साथ यह भी कहा गया है कि इस आश्रम में निवास करने वाले व्यक्ति को विनम्र, श्रेष्ठ, कुलोत्पन्न तथा पतिपरायणा पत्नी के साथ विवाह करना चाहिए।[३]

ये आश्रम इसलिए श्रेष्ठ आश्रम है क्योंकि यह पुण्यवान आश्रम हैं। गृहस्थ सर्वदा नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य कर्मों को करता हुआ इस लोक में सुख भोगता है और स्वर्ग का अनुभव करता है। अपने धर्म का पालन करता हुआ गृहस्थ इस आश्रम में सुखी होकर यज्ञ कीर्ति, पुण्य, धन पाकर जीवन्मुक्त हो जाता है।[४]

---

1. गुरूणानुमतः स्नात्वा समवृतो यथाविधिः।
   उद्वहेत् द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षवान्वितम्।।
   म. स्मृ.– 3/4
2. यथा नदी नदः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
   तथैवश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।।
   यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
   तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वाश्रमाः।।
   वही– 6/90, 3/70
3. ब्र. वै. ब्र. ख.– 24/9
4. वही– 23/8–11

गृहस्थाश्रम की महत्ता का उल्लेख महाभारत में भी मिलता है। गृहस्थाश्रम में धर्म, अर्थ और काम तीनों की प्राप्ति होती है। इसलिए त्रिवर्ग साधन की इच्छा रखकर गृहस्थ को उत्तम कर्म के द्वारा धन संग्रह करना चाहिए, अर्थात वह स्वाध्याय से प्राप्त हुई, विशिष्ट योग्यता से ब्रह्मर्षियों द्वारा धर्मशास्त्रों में निश्चित किए हुए मार्ग से अथवा पर्वत से उपलब्ध हुए उसके सारभूत मणिरत्न, दिव्यौषधी एवं स्वर्ण आदि से धन का संचय करें।

हवन श्राद्ध नियम वेदाभ्यास तथा देवताओं की प्रसन्नता से प्राप्त धन के द्वारा गृहस्थ पुरूष अपनी गृहस्थी की निर्वाह करें। क्योंकि गार्हस्थ्य आश्रम को सब आश्रमों का मूल कहते हैं, गुरूकुल में रहने वाले ब्रह्मचारी, वनों में व्रत, नियम, धर्म पालन करने वाले, वानप्रस्थी, सन्यासी भी इस गृहस्थ आश्रम से भिक्षा भेंट उपहार दान प्राप्तकर अपने-अपने धर्म के पालन में प्रवृत्त होते हैं।[1]

---

1. गृहस्थाश्रमो धर्मार्थकामावर्त्तिर्ह्यत्र त्रिवर्गसाधनमपेक्ष्या।
   गर्हितेन कर्मणा धनान्यादान स्वाध्यायोपलब्धप्रकृर्षेण।।
   वा ब्रह्मर्षिनमितेन् वा अद्रिसारगतेन वा।
   हव्य-कव्य नियमाभ्यासदैवत प्रसादौपलब्धेन वा धनेन गृहस्थ-गार्हस्थ्यं वर्तयेत्।
   तद्धि सर्वाश्रमाणां मूलमुदाहरन्ति गुकुलनिवासिनः परिव्राजका।
   ये चान्ये संकल्पित व्रतनियज्ञ धर्मानुष्ठायिनस्तेषामप्यत् एवं भिक्षाबलि संविभागाः प्रर्वतन्ते।
   महा.- 12/191/10

महाभारत में अन्यत्र वर्णित हुआ है कि जो वेदों का अध्ययन पूर्ण करके समस्त वेदोक्त शुभकर्मों का अनुष्ठान करने के पश्चात् अपनी विवाहिता पत्नी के गर्भ से सन्तान उत्पन्न कर उस आश्रम के न्यायोचित भागों को भोगता और एकाग्रचित हो, मुनिजनोचित धर्म से युक्त, दुष्कर गार्हस्थ्य धर्म का पालन करता है। उत्तम है।[१]

गृहस्थाश्रमी पुरूष इन्द्रियों का संयम करे, गुरूजनों एवं शास्त्रों की आज्ञा माने, देवताओं और पितरों की तृप्ति के लिए हव्य व कव्य समर्पित करने में कभी भूल न होने दें। ब्राह्मणों को निरन्तर अन्नदान करे, ईर्ष्या-द्वेष से दूर रहे, अन्य सब आश्रमों को भोजन देकर उनका पालन पोषण करता रहे और सदा यज्ञ यागादि में लगा रहें।[२]

---

1. अधीत्य वेदान् कतसर्वकृत्यः संतानमुत्पाद्य सुखानि भुक्त्वा।
   समाहितः प्रचरेद् दुश्चरं यो, गार्हस्थ्यधर्मे मुनिधर्म जुष्टम्।।
   महा.– 12/651/10

2. दान्ता विधेयो हव्यकव्येऽप्रमत्तो, हान्नस्य दाता सततं द्विजेभ्यः।
   अमत्सरी सर्वलिंगपदाता वैताननित्यश्च गृहाश्रमी स्यात्।।
   महा.– 12/61/12

‘ वानप्रस्थ ’

इस आश्रम में निवास करने वाले के लिए, यह कहा गया है कि जब व्यक्ति के बाल पक जावे, त्वचा ढीली पड़ जावे तब विषय इच्छा से रहित होकर स्त्री को पुत्रों के संरक्षण में देकर अथवा उसे साथ लेकर वन का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।

बसन्त, शरद आदि ऋतुओं में भी निरन्तर यज्ञ कर्म करते रहना चाहिए। वानप्रस्थ में निवास करने वाले के लिए यह कहा गया कि वह उन्हीं फल–मूलों का सेवन करे जो सुविधा से और ऋतु के अनुसार वन में उपलब्ध हो जाते हैं। वह किसी प्रकार का पका हुआ अन्न ग्रहण न करे। ग्रीष्म ऋतु में अग्नि में तपे और शीत ऋतु में जल में खड़े होकर तप सम्पादित करे। निरन्तर स्वाध्याय करता रहे तथा मित्रता की भावना से अपना जीवन जिए।

निरन्तर दान में प्रवृत्त रहे और सभी प्राणियों के प्रति कृपाभाव वाला बना रहे।[१] वन में नियम पूवर्क निवास करने के कारण ही वानप्रस्थाश्रमवासी कहा गया है।[२]

---

1. गृहस्थरस्तु यदा पश्येत् बलीपतितमात्मनः।
   अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्।।
   फलेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छते सहैव वा।
   अग्निहोत्रं समादाय गृहं चाग्नि परिच्छिदम्।।
   स्वाध्याये नित्युक्तः स्यात् दान्तो मैत्रः समाहितः।
   दाता नित्समनादाता सर्वभूतानुकम्पकः।।
   ग्रीष्मे पंचतपास्तु यावद् वर्षास्वभावकाशिकः।
   आद्रवास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयन् तपः। म0स्मृ0पृ0 222, 226
2. या. स्मृ.–3/45 पर मिताक्षरा

उपनिषद् उनको वानप्रस्थी कहती हैं जो तप और श्रद्धा से युक्त होकर शान्त भाव से भिक्षा का आचरण करते हुए वन में निवास करते हैं।[1]

महाभारत में वानप्रस्थ आश्रम के विषय में उल्लेख मिलता है कि गृहस्थ पुरुष जब अपने सिर के बाल सफेद दिखायी दें, शरीर में झुरियाँ पड़ जायें और पुत्र को भी पुत्र की प्राप्ति हो जाय और तो अपनी आयु का तीसरा भाग व्यतीत करने के लिए वन में जाये और वानप्रस्थ- आश्रम में रहे, वह वानप्रस्थ में उन्ही अग्नियों का सेवन करे, जिनकी गृहस्थाश्रम में उपासना करता था। साथ ही वह प्रतिदिन देवाराधन भी करता रहे।[2]

---

1. तपः श्रद्धे ये हुवन्त्यरण्ये शान्ता विद्वान्सो भैक्ष्यचर्यो चरन्तः।
   सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः सपुरुषो हयव्यामा।।
   मृ0 उ0– 1/2/11
2. गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः।
   अपत्यस्यैव चापत्यं वनमेव तदाश्रयेत्।।
   तृतीयमायुषो भागं वानप्रस्थाश्रमे वसेत्।
   तानेवाग्नीन् परिचरेद् यजमानो दिवौकसः।। महा0–12/244/45

महाभारत में ही अन्यत्र देवी पार्वती व भगवान् शिव के धर्मविषयक संवाद के अन्तर्गत वानप्रस्थी के कर्त्तव्य का उल्लेख मिलता है-

वानप्रस्थी का सबेरे उठना, शौचाचार का पालन करना, सब देवताओं को मस्तक झुकाना, शरीर में गाय का गोबर लगाकर नहाना, दोष और प्रमाद का त्याग करना, सांयकाल और प्रातःकाल स्नान एवं विधिवत् अग्निहोत्र करना ठीक समय पर शौचाचार का पालन करना, सिर पर जटा और कटि प्रदेश में वल्कल धारण करना, समिधा और पुष्प का संग्रह करने के लिए सदा वन में विचरना, समय पर नीवार से आग्रयण कर्म करना, साग और मूल का संकलन करना तथा सदा अपने घर का शुद्ध रखना आदि कार्य वानप्रस्थ मुनि के लिए अभीष्ट है। इनसे उसके धर्म की सिद्धि होती है।[1]

---

1. कल्पोत्थानं च शौचं च सर्वदेवप्रणामनम्।
शकुदालेपनं काये व्यक्तदोष प्रमादता।।
सायम्प्रातश्चाभिषेकं चाग्निहोत्रं यथाविधि।
काले शौचं च कार्ये च जटावल्कल धारणम्।।
सततं वनचर्या च सुमित्कुसुम कारणात्।
नीवाराग्रयणं काले शाकमूलोपचायनम्।।
सदायतन शौचं च तस्य धर्माय चेष्यते।। महा0- 13/142/6

'संन्यास'

"समन्तात् न्यासः" – "सम्यक प्रकारेण न्यासः" इन व्युपत्तियों के अनुसार इस आश्रम का साधक सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर, सर्वतन्त्र सम्पन्न होकर विचरण करता है।[१] इसका उल्लेख महाभारत महाकाव्य में भी मिलता है कि संन्यासी किसी भी नगर में पाँच रात्रि और गाँव में एक रात्रि से अधिक न ठहरें। प्राण धारण के लिए अपने विशुद्ध धर्मों का पालन करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन द्विजातियों के ऐसे घरों में जाकर खड़े हो जायें, जहाँ संकीर्णता न हो, बिना माँगे पात्र में जितनी भिक्षा आ जाये उतनी ही स्वीकार करें।

संन्यासी काम, क्रोध, दर्प, लोभ, मोह, कृपणता, दम्भ, निन्दा, अभिमान तथा हिंसा से दूर रहें।[२]

---

1. ब्र0 वै0 सां0 अ0– पृ0 179

2. ग्रामं वा नगरे पंचरात्रिका ग्रामे चैकरात्रिकाः प्रविश्य च प्राणधारणार्थे
   द्विजातीनां भवनाम्यसंकीर्ण कर्मणाम्।।
   पतिष्ठेयुः पात्रपतितायाचित भैक्ष्या कामक्रोध दर्प
   लोभ–मोह कार्पण्यदम्भ परिवादाभिमानहिंसानिवृत्ता इति।।
   महा0– 12/192/3

महाभारत महाकाव्य में संन्यासियों के आचरणों का कथन किया गया है। जैसा कि वहाँ पर कहा गया है संन्यासी के हृदय में हर्ष और विषाद की भावनाओं का आदान प्रदान नहीं होना चाहिए। संन्यासी को भिक्षा मिलने पर हर्ष और न मिलने पर दुख नहीं करना चाहिए। जितने से जीवन निर्वाह हो जाये उतनी ही भिक्षा लेनी चाहिए।[1]

अन्यत्र भी उल्लेख है कि संन्यासी के लिए उचित है कि सदा पवित्र जल से काम ले। प्रतिदिन तुरन्त निकाले हुए जल से स्नान करे। अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, सरलता, क्रोध का अभाव, दोष दृष्टि, त्याग, इन्द्रिय संयम और चुगली न करना इन आठ व्रतों का सदा सावधानी के साथ पालन करें। इन्द्रियों को वश में रखें।

संन्यासी को भूत-भविष्य व वर्तमान की घटनाओं का चिन्तन नहीं करना चाहिए। केवल काल की प्रतिक्षा चित्तवृत्तियों का समाधान करता रहे। नेत्र से, मन से, और वाणी से कहीं भी दोष दृष्टि न करे। सबके समक्ष या पीछे किसी की बुराई न करे।

---

1. लाभेन् च न दृश्यते नालाभे विमना भवेत्।
   न चातिभिक्षां भिक्षेत केवलं प्राणयात्रिकः।। महा0–14/46/20

2. पूताभिरद्भिर्नित्यं वै कार्यं कुर्वीत मोक्षबित्। उपस्पृशे दुद्धताभिरभिरद्भिश्च पुरुषः सदा
   अहिंसा ब्रह्मचर्यं च सत्यमार्जवमेव च। अक्रोधश्चानसूया च दमो नित्यम् पैशुनम्
   अष्टस्वेतेषुयुक्तः स्याद व्रतेषु नियतेन्द्रियः। महा0–14/46/28–29–30

3. महा0–पृ0 6197

'लोकधर्म और परलोक धर्म '

सांसारिक संरचना में यह निश्चियात्मक रूप से कहा गया है कि यह लोक दो प्रकार से अवस्थित है। इसका एक प्रकार है लौकिक और दूसरा प्रकार है पारलौकिक। इसलिए धर्म का जब विवेचन होता है तो इसको भी द्विविध रूपों में कहा जाता है- एक तो लोक धर्म के रूप में और एक परलोक धर्म के रूप में। लोकधर्म का आचरण यद्यपि लोक शुचिता के लिए है तथा लोक शुचिता के माध्यम से ही अलौकिक जीवन की सिद्धि भी होती है।

इसलिए लोक धर्मों का कथन करते हुए यह भी कहा जाता है कि इनके ही माध्यम से परम कल्याण की प्राप्ति भी सम्भव है। परलोक धर्म के विषय में कहा जा सकता है कि जिस ज्ञान-विचार और व्यवहार से व्यक्ति का इहलोक ही नहीं परलोक भी पूर्णता की ओर बढ़े, उसे पारलौकिक धर्म कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जिस ज्ञान, चिन्तन और मनन से मनुष्य का परलोक शुचिता पूर्ण हो वह पारलौकिक धर्म है।

महाभारत महाकाव्य में एक स्थान पर इसी प्रकार का संकेत इस रूप में है- जिसमें मोह और कायरतारूप दोषों से युक्त अर्जुन भगवान् श्री कृष्ण के शरण में होकर उनसे धर्म के विषय में कल्याण-प्रद उपदेश की प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि मैं धर्म के विषय में मोहचित्त हो गया हूँ। मेरे लिए कल्याण कारण शिक्षा दीजिए।[1]

---

1. कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्म सम्मूढचेताः।
 यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। महा.-6/26/7

इस रूप में जो धर्म कहे गये हैं, उनमें यह कहा गया है कि मनुष्य को निस्वार्थ भावना के साथ अपने कर्मों में संयुक्त होना चाहिए, उनके फलों में नहीं।[1]

इसलिए निष्काम भाव से कर्म करना चाहिए कर्मों में आसक्त नहीं होना चाहिए। अनासक्त भाव से कर्म करने पर ही परमात्मा की प्राप्ति होती है।[2]

अन्यत्र भी उल्लेख मिलता है कि सरदी गर्मी और सुख-दुखादि में तथा मान और अपमान में जिसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ भली-भांति शान्त हैं, अर्थात् उनमें समत्व का भाव है उस स्वाधीन आत्मा वाले पुरुष के ज्ञान में स्वयं परमात्मा स्थित होते हैं तथा वह स्वयं ही परमात्मा को प्राप्त होता है।[3]

---

1. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्।
   मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते संङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। महा0–6/26/47
   श्री मद्भगवद् गीता– 2/47

2. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार।
   असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः।। महा0– 6/27/19
   श्रीमद्भगवद्गीता 3/19

3. महा0– 6/30/7, श्रीमद्भ0गी0– 6/7

लौकिक धर्मों के इस क्रम में वहाँ पर यह कहा गया है कि धर्म पालक को चाहिए कि अहिंसा, सत्य, अक्रोध, तपस्या, दान, मान और इन्द्रियों का संयम, विशुद्धि बुद्धि, किसी के दोष न देखना, किसी से डाह और जलन न रखना तथा उत्तमशील स्वाभाव रखे।

अर्थात् किसी प्राणी की हिंसा न करना, बिना दी हुई वस्तु को न लेना, दान अध्ययन और तप में तत्पर रहना, किसी भी दृष्टि से गर्व न करना ये धर्म के ही लक्षण है।[1]

जिनके शुभ कर्म दिखावे के लिए नहीं होते, जो सदा मीठे वचन बोलते हैं, जिनका धन सत्कर्मों के लिए बँधा हुआ है। जो तप करते हैं कुमारावस्था से ही ब्रह्मचर्य व्रत के पालन में तत्पर हैं। जो सब देवताओं को प्रणाम करते हैं, और सभी धर्मों को सम्मान देते हैं। जिनमें श्रद्धा और शान्ति विद्यमान है, जो मन, वाणी व क्रिया द्वारा किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाते, संसार में जितने भी प्राणी हैं, उन सभी के प्रति जो सम्मान भाव रखे। जो समस्त प्राणियों के स्वामी तथा जगत् की उत्पत्ति और प्रलय के हेतु भूत भगवान नारायण में भक्ति भाव रखते हैं, जो कमलनयन भगवान श्रीकृष्ण को अपने सम्पूर्ण कर्म समर्पित कर दें, वे सम्पूर्ण कष्टों को पारकर जाते हैं।[2]

---

1. अहिंसा सत्यक्रोधस्तपो दानं दमो मतिः।
   अनसूयाप्यमात्सर्यमनीर्ष्या शीलमेव।।
   ब्रह्मणा देवदेवन् अयं चैव सनातनः।
   अस्मिन् धर्मे स्थितो राजन् नरो भद्राणि।। महा.– 12/109/ 12
2. महा.– पृ. 4707–4708

लोक धर्म के अन्तगर्त ही ये भी उल्लेख मिलता है कि धर्मानुयायी में क्रूरता का अभाव, अप्रमाद, देवता पितर आदि को उनके भाग समर्पित करना, श्राद्ध कर्म, अतिथि सत्कार अपनी पत्नी में ही संतुष्ट रहना, पवित्रता रखना, आत्मज्ञान सहनशीलता होना चाहिए।[1]

इसी प्रकार जो मानव जन्म से ही सदा के लिए मधु मांस, मदिरा का त्याग कर देते हैं, जो स्वाद के लिए नहीं मात्र जीवनयात्रा हेतु भोजन करते हैं, जो भगवान श्रीहरि विष्णु की शरण लेते हैं। जो यज्ञों द्वारा अराधना के योग्य हैं उन साधु प्रतिपालक विश्वविधाता भगवान राधाकृष्ण को स्मरण कर उन्हें नमस्कार करता है।

विष्णु, इन्द्र, शिव तथा लोकपितामह ब्रह्मा नाना प्रकार के स्तोत्रों द्वारा जिनकी स्तुति करते हैं, उन देवाधिदेव परमेश्वर की जो आराधना करते हैं। वे इहलोक तथा परलोक में समस्त संकटों को पार कर परमात्मा में लीन हो जाते हैं।[२] इस रूप में लोक धर्म शुचिता के हेतु हैं और इनका पालन करने वालों का जीवन परम पवित्र और श्रेष्ठ होता है। साथ ही धर्म की धारणा करने के अर्थ में जो अवधारणा है, वह भी सार्थक होती है।

---

1. महा. पृ.– 5089 ।

2. महा.– पृ. 4708 ।

लोक धर्म के प्रतिपादन में एक अन्य स्थान पर चारों युग के धर्मों का कथन किया गया है। जिसमें यह कहा गया है, सत्ययुग में तथा त्रेतायुग में वेद, यज्ञ तथा वर्णाश्रम धर्म विशुद्ध रूप से पवित्र होते हैं। परन्तु द्वापर युग में लोगों की आयु का ह्रास होने के कारण ये भी क्षीण होने लगते हैं।

द्वापर तथा कलियुग में वेद प्रायः लुप्त हो जाते हैं। कलियुग के अन्तिम भाग में तो कभी कहीं दिखायी देते हैं और कभी दिखाई भी नहीं देते हैं। उस समय अधर्म से पीड़ित हो सभी वर्णों के स्वधर्म नष्ट हो जाते हैं। वेद, वैदिक धर्म तथा स्वधर्म परायण आश्रम ये सभी उस समय अधर्म से आच्छादित हो जाते हैं। इसलिए इस युग मे भगवान को हृदय में धारण करना चाहिए।[1]

महाभारत के श्रीमद्‌भगवत गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि जब जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ। अर्थात् साकार रूप में लोगों के सम्मुख प्रकट होता हूँ।[2]

---

1. सत्ययुगं त्रेतादौ केवला वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा।
   संरोधादायुषत्स्वेते व्यस्यन्ते द्वापरे युगे।।
   द्वापरे विप्लवं यान्ति वेदाः कलियुगे तथा।
   दृश्यन्ते कलेरन्ते पुनः किल।।
   अधर्मान्तर्हिता वेदा वेदधर्मास्तथाऽऽश्रमाः। महा.– 12/238/14, 15, 16
2. यदा–यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
   अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाभ्यहम्।। महा.– 6/28/7
   श्री. म. भ. गी.– 4/7,8

पारलौकिक धर्म के अन्तर्गत महाभारत महाकाव्य में कथन है जिसमें भगवान श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि जो मेरे परायण रहने वाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वर को ही अनन्य भक्ति योग से निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं। उन प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्यु रूप संसार से उद्धार करता हूँ।[१]

इस धर्म का कथन करते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि व्यक्ति के मन में जब तक सभी के प्रति समत्व और एकत्व का भाव उत्पन्न नहीं हो जाता तब तक ही उसके लिए बाह्य उपासनादि कर्मों की आवश्यकता है और तभी अपने उपासना आदि कर्मों से वह अपने लोक जीवन में सुख प्राप्ति कर पाता है। जब व्यक्ति सम्पूर्ण भूमण्डल के प्रत्येक कण–कण में ब्रह्म की सत्ता का अनुभव करता है तभी यह जाना जाता है कि वह सभी सांसारिक कार्य कलापों से उपरमित हो गया। भगवान कहते हैं कि यह विचार और यह व्यवहार ही सभी के लिए सभी समय में मेरा मत हैं।

---

1. ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्नयस्य मत्पराः।
   अनन्येनैव योगेन् मां ध्यायन्त उपासते।।
   तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
   भवामिं नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।
   महा.– 6/36/6,7
   श्री.म.भ.गी.–12/6,7

क्योंकि सभी जीवों में मन, वाणी और कर्म से मेरा दर्शन कर व्यवहार करना ही समीचीन है, अन्यथा कोई अन्य धर्म आचरित करते हैं वह सभी निरर्थक होता है, और ऐसा प्रयत्न केवल प्रयत्न मात्र ही कहा जा सकता है और उसकी किसी प्रकार की सार्थकता नहीं कही जा सकती है।

यही बुद्धिमान जनों की बुद्धि का चरमोत्कर्ष है और यही मनीषियों की मनीषा है।

यह सम्पूर्ण संसार सत्य स्वरूप है, सत्य में ही सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं। वे दम, त्याग और अप्रमाद आदि गुण भी सत्यस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति कराने वाले हैं। सत्य में ही अमृत की प्रतिष्ठा है।[1]

पारलौकिक धर्म के विषय में सनत्सुजात जी का धतृराष्ट्र के प्रति जो उपदेश है उसमें कथन है कि मनुष्य काम-क्रोध, लोभ से मोहित हो अहंकार के वशीभूत हो इस संसार में पुनः-पुनः जन्म-मरण के चक्कर में पड़ते हैं। कर्म के फल में आसक्ति रखने वाले लोग परलोक का अनुमगन करते हैं, क्योंकि देहाभिमानी जीव परमात्मसाक्षात्कार के उपाय को न जानने से विषयों के उपभोग के कारण सब ओर भटकता रहता है। अतः जो मृत्यु को जीतने की इच्छा रखता है, उसे चाहिए कि परमात्मा का ध्यान करके विषयों को तुच्छ मानकर, कामनाओं को नष्ट करके जन्म-मरण के दुख को पार करके मोक्ष को प्राप्त करें।[2]

---

1. सत्यात्मा भव राजेन्द्र सत्ये लोकाः प्रतिष्ठितः। तास्तु सत्यमुखानाहुः सत्ये ह्यमृतमाहितम्
   महा.– 5/43/37।
2. ते मोहितास्तद्वशे वर्तमानाइतः प्रेतास्तत्र पुनः वतन्ति। ततस्तान् देवा अनुविप्लवन्ते
   अतो मृत्युर्मरणाख्यामुपैति।।
   सोऽभिध्यायन्नुपतितान् निहन्या दनादरेणा प्रतिबुध्यमानः।
   नैनं मृत्युर्मृत्युरिवात्ति भूत्वा एवं विद्वान यो विनिहन्ति कामान्।। म.भा. 5/42/8–12

इसी धर्म के सम्बन्ध में विदुर का कथन है कि यह जीवात्मा एक नदी है, इसमें पुण्य ही तीर्थ हैं। सत्य स्वरूप परमात्मा से इसका उद्‌गम हुआ है। धैर्य ही इसके किनारे हैं। दया लहरें है। पुण्य कर्मों से युक्त पुरुष इसमें स्नान कर पवित्र होता है। क्योंकि लोभ रहित आत्मा सदा पवित्र रहती है।

क्रोध काम आदि रूप ग्राह से भरी, पाँच इन्द्रियों के जल से पूर्ण इस संसार नदी के जन्म-मरण रूप दुर्गम प्रवाह धैर्य की नौका से ही पार करने योग्य हैं।

जो बुद्धि, धर्म, विद्या और धैर्य के साथ मोह का परित्याग करता है, वह सुख-दुःख को पार कर अनन्त मोक्ष को प्राप्त होता है।[१]

---

1. आत्मा नदी भारत पुण्य तीर्था।
सत्योदका धृतिकूला दयोर्भिः।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा।
पुण्यो ह्यत्मा नित्यम-लोभस्य।।
कामक्रोध ग्राहवती पंचेन्द्रियजलां नदीम्।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर।। महा.- 5/40/21-22

'धर्म नीति और आचार का समन्वय'

बौधायन धर्म सूत्र में धर्म के तीन स्कन्धों का वर्णन किया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि धर्म को श्रौत, स्मार्त, और शिष्टाचार के रूप में जानना चाहिए। जिन कार्यों का कथन वेदों में यज्ञ-याज्ञादि के लिए किया गया है वे श्रौत धर्म हैं। जिनका वर्णन स्मृतियाँ करती है, और आश्रम तथा कर्त्तव्यों के रूप में कहा गया है, वह स्मार्त धर्म हैं। शिष्टाचार वह धर्म का स्वरूप है, जिसका कथन सभी ग्रन्थों में हैं। शिष्टाचार सभी के लिए सामान्य रूप से पालनीय है। यह एक प्रकार से सामान्य धर्म भी है।[१]

छान्दोग्योपनिषद् धर्म के तीन स्वरूपों की चर्चा करता है। इसके अनुसार धर्म का प्रथम स्कन्ध है यज्ञ, अध्ययन और दान। तप धर्म का दूसरा स्कन्ध है और ब्रह्मचारी का अपने शरीर को अत्यन्त क्षीण करके आचार्य कुल में रहना इसका तृतीय स्कन्ध है। इस सन्दर्भ में आचार्य शंकर ने अपना यह अभिमत व्यक्त किया है कि इनमें से प्रथम धर्म स्कन्ध ब्रह्मचारी के लिए, दूसरा गृहस्थ के लिए और तीसरा वानप्रस्थी के लिए माना जा सकता है।[२]

---

1. बौ. ध. सू.– 1/1/1–4 ।
2. छा. उ.– 214 से 217 तथा शंकर भाष्य ।

अन्य प्राचीन सन्दर्भों में भी ऋत और सत्य का कथन भी किसी न किसी रूप में धर्म, आचार और नीति का ही कथन है। वेद इस तथ्य का कथन इस रूप में करता है, जिस रूप में यह कहा गया है कि सृष्टि में सर्व प्रथम ऋृत और सत्य ही उत्पन्न हुए।[१]

बाद के समय में ऋत और सत्य के जो अर्थ ग्रहण किये गये, उसके अनुसार सत्य का अर्थ उचित, सच्चा और सम्मानित है।[२] इसी प्रकार ऋत का अर्थ किया गया-यथार्थ, ईमानदार और वास्तविक।[३]

अन्य अर्थ भी ऋत और सत्य के सम्बन्ध में किए गए हैं।, जिनमें शुभ, सत्य तथा हित आदि का पर्याय माना गया है।[४] इसी दृष्टि से एक विद्वान ने कहा है कि वरूण ऋत के अधिपति देवता हैं, जिसका अर्थ, विश्व जनीन नियमों के लिए होता था और बाद में जिसे नैतिक नियमों के रूप में जाना जाने लगा।[५]

---

1. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोध्यजायत।
   ततो असदजायत ततः समुद्रो अर्णवः।।
   ऋक.– 10/190/1
2. सं. श. कौ.– पृ. 265, भा. नी.वि.– पृ. 32
3. वही पृ. 1160
4. भा. पृ. 1160
5. हिं. स. पृ.–104

नीति शब्द का अभिप्राय इस रूप में होता है– ले जाने की क्रिया, युक्ति, आचार पद्धति अथवा राज्य रक्षा के लिए काम आने वाली युक्ति। नीति शब्द का एक अन्य अर्थ यह भी किया गया है कि नीति वह है जिससे ऐहिक तथा आमुष्मिक अर्थ प्राप्त किये जाते हैं।[१]

वेद को प्रामाण्य रूप में स्वीकार करने वाले उपनिषद् भी सत्य तथा ऋत का उल्लेख करते हैं और इनकी व्यापकता का कथन करते हुए नीति एवं आचार के अर्थ में देखते हैं। जैसे कि तैत्तिरीय उपनिषद् में निरन्तर ऋत तथा सत्य की उपासना करने के लिए कहा गया है। सत्य की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में तो उपनिषद् इतनी पुष्टता से अपना पक्ष रखते हैं कि वे यह कहते है कि सत्य ही ब्रह्म है। जो सत्य को ब्रह्म जानकर उपासना करते हैं, वह लोकों को जीत लेते हैं।[१]

सत्य का ही आधार बनाकर मुण्डकोपनिषद् में यह कहा गया है कि सत्यवादी वह होता है, वही विजय प्राप्त करता है सत्य भाषण से ही देव मार्ग विस्तीर्ण होता है।[२] इस रूप में सत्य का प्रयोग और सत्य से देव मार्ग खुलना तथा बाद में सत्य को ही ब्रह्म रूप से ही स्वीकार कर लेना आगे के लिए नैतिक आचार का आधार हो सकता है।

---

1. ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च।।
   ई. द्वा. उ. पृ.– 80
2. तद्वैतदेत देव तदास्र सत्यमेव सयो हैतं महद्योक्षं प्रथमजं वेद।।
   सत्य ब्रह्मेति जयतीमालोकान् जित इन्वसावसद्य एवमेतं।।
   महधक्षं प्रथमजं वेद सत्यं हयेव ब्रह्म। वही. पृ.– 65

महर्षि व्यास ने महाभारत महाकाव्य के अन्तर्गत अनेक स्थानों पर धर्म, नीति एवं आचार के समन्वय का प्रतिपादन किया है। उन्होंने एक स्थान पर यह लिखा है कि मनुष्य के द्वारा अनेक तीर्थों में स्नान करके शुद्ध, सात्विक जीवन पाना सुन्दर तो है किन्तु उसकी अपेक्षा यह अधिक सुन्दर है कि व्यक्ति सभी मनुष्यों के प्रति कुटिलता का भाव मन में न लावे। उनकी दृष्टि में यह परम धर्म है। यदि इस कथन को देखा जाए तो यह प्रतीत होगा कि महाभारत का यह सन्दर्भ भी नीति व आचार के परिप्रेक्ष्य में उसके समीप ठहरता है।[१]

महाभारत महाकाव्य का परिशीलन करते हुए एक विदुषी ने अपना मत व्यक्त करते हुए यह लिखा है कि इस महाकाव्य में नीति और आचार के लिए शील शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके अनुसार वे कर्म नीति संगत हैं जिनसे किसी का भी अहित न होता हो। यही मनुष्य का धर्म कहा जाता है।[२]

---

1. महा. उद्यो. पर्व.– 3/2

2. महा. शा. पर्व– 24/64.66

नीति के सम्बन्ध में और उसके आचारात्मक रूप पर विचार करते हुए यह कहा गया है कि नीति, धर्म और आचार परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं।[1]

महर्षि मनु और वेदव्यास जी ने धर्म के जिस रूप की व्याख्या की है उसके अनुसार यह कहा है कि वेद स्मृतियों को जानने वालों की स्मृति, श्रेष्ठ जनों का आचार, तथा आत्म तुष्टि यही धर्म के मूल हैं।[2]

इस कथन की विस्तृत व्याख्या कर यह भी कहा गया है कि वेद सत्य के रूप में उसकी प्रतिष्ठा कर सत्य नीति की स्थापना करते हैं। श्रेष्ठ जनों का जो आचार है वह मानव जीवन में व्यावहारिक धर्म का संकेत करता है और आत्म तुष्टि भी श्रेष्ठ जनों का ऐसा व्यवहार है जो उनके द्वारा किए गए श्रेष्ठ कर्मों से ही प्राप्त होता है। श्रेष्ठ जनों की आत्म तुष्टि सामाजिक आत्म तुष्टि कही जा सकती है। क्योंकि ये श्रेष्ठ आचार पर ही आधारित होती है, और इससे समष्टि का अर्थ प्रकट होता है।[2] इस रूप में प्राचीन सन्दर्भ धर्म को और आचार व नीति को प्रमुख रूप से मानसिक तथा शारीरिक क्रिया के रूप में देखते हैं जो स्व तथा पर के लिए भी मंगलकारी है।

---

1. भा. नि. वि.– पृ. 18
2. वेदोऽखिलं धर्म मूलं स्मृति शीले च तद्विदाम्।
   आचारश्चैव साधूनां आत्मनस्तुष्टिरेव च।।
   म. स्मृ.– 2/6 म.भा. वन पर्व।

निष्कर्ष-

इस रूप में महाभारत महाकाव्य में धर्म, नीति के तारतम्य में जो विवेचन किया गया है, वह मनुष्य के आचार के रूप में देखा जा सकता है।

मानसिक रूप से ज्ञान को क्रिया रूप परिणत किया जाना ही एक प्रकार से आचार है क्योंकि आचरण ही आचार के मूल में मुख्य रूप से होता है।

कोई भी धर्म का कारक और नीति का विचार तब तक सार्थक और प्रभावी नहीं होता, जब तक वह क्रिया रूप में दिखाई नहीं देता अथवा मनुष्य के जीवन में उतरता नहीं है।

जैसे ही धर्म का कोई अंग अथवा नीति का कारक मनुष्य के आचरण में आ जाता है वह आचार कहा जाने लगता है और तभी वह सार्थक हो जाता है। महाभारत महाकाव्य में धर्म का यह स्वरूप दिखाई देता है।

उद्घृत ग्रन्थ-सूची

१.	अथर्ववेद (खण्ड प्रथम)	संस्कृति संस्थान, बरेली
२.	अथर्ववेद (खण्ड द्वितीय)	संस्कृति संस्थान, बरेली
३.	आश्वलायन गृह्मसूत्र	ईस्टर्न बुक लिंकर्स १९७६
४.	आपस्तम्ब धर्मसूत्र	पूना १९२२
५.	ईस्टर्न रिलीजन एण्ड पेस्टर्नथॉट	डॉ. राधाकृष्णन
६.	ईशादि द्वादशोंपनिषद	विद्यागिरि
७.	उशना स्मृति	कैलाश विद्या प्रकाशन
८.	उपनिषद् कालीन समाज एवं संस्कृति	डॉ. राजेन्द्रकुमार. द्विवेदी परिमल पब्लिकेशन १९७७
९.	ऋग्वेदम्	सायण भाष्य सहितम्
१०.	ए. वि. ओ. आई.	
११.	ए मैनुअल ऑफ इण्डिया	डॉ. जे. एन. सिन्हा
१२.	ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर	लन्दन १९२५
१३.	कठोपनिषद्	गोविन्द मठ ट्रस्ट टेढ़ी नीम वाराणसी
१४.	हिन्दू संस्कृति अंक	गीता प्रेस गोरखपुर
१५.	कल्चरल हिस्ट्री फ्राम द वायुपुराण	डी. आर. पाटिल दिल्ली १९७३
१६.	कादम्बरी कथा मुखम	राजेन्द्र मिश्र, अक्षय प्रकाशन इलाहाबाद १९८९
१७.	कूर्म पुराणांक	वर्ष-७७ अंक-१ गीताप्रेस वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन १९६२

१८. कौटिल्य अर्थशास्त्र — वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन १६६२

१६. गोपथ ब्राह्मण — गाएट्रा सम्पादित चौखम्बा विद्याभवन- १६६२

२०. छान्दोग्योपनिषद — गोविन्द मठ, वाराणसी गीता प्रेस, गोरखपुर

२१. छान्दोग्यापनिषद — गीता प्रेस, गोरखपुर

२२. जनरल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी

२३. द ग्रेट एपिक ऑफ इण्डिया — प्रो. हाकिन्स

२४. तैत्रीय आरण्यक

२५. निरूक्त

२६. नीति दर्शन की पूर्व पीठिका — राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी १६६२

२७. पातञ्जल योग प्रदीप — गीताप्रेस गोरखपुर सन् २०४५

२८. प्रारम्भिक आचार शास्त्र — अशोक कुमार वर्मा मोतीलाल बनारसी दास १६६५

२६. ब्रह्मवैवर्तपुराण — डॉ. बैकुण्ठनाथ शर्मा, जयपुर

३०. ब्रह्मवैवर्तपुराण सांस्कृतिक विवेचना — डॉ. बैकुण्ठनाथ शर्मा

३१. बृहदारण्यकोपनिषद — शांकरभाष्य गीताप्रेस गोरखपुर

३२. वृहस्पति स्मृति — ए.ए. फ्युहर लिपजिंग-१६७६

३३. बौधायन धर्मसूत्र — वाराणसी- १६३४

३४. भगवद्गीता — गीताप्रेस गोरखपुर

३५. भारतीय नीतिशास्त्र — डॉ. दिवाकर पाठक बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी- १६८२

३६. भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास — डॉ. भाखालाल हिन्दी समिति सूचना विभाग- १६८४

३७. भारतीय नीति का विकास — डॉ. राजबली पाण्डेय बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

३८. मनु स्मृति — हिन्दी पुस्तकालय, मथुरा

३६. महाभारत हिन्दी टीका सहित — गीताप्रेस गोरखपुर

४०. महाभारत में शान्तिपर्व का आलोचनात्मक अध्ययन — ईस्टन बुक लिंकर्स १६८४

४१. मीमांसा प्रमेय — डॉ. रामप्रकाशदास सुकृति प्रकाशन नई दिल्ली-१६८८

४२. मुण्डकोपनिषद — गीताप्रेस गोरखपुर

४३. मैनुअल ऑफ एथिक्स — प्रो. मेकेन्जी

४४. याज्ञवल्क्य स्मृति — वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री
बम्बई १६२६

४५. द लाइफ डिवाइन — श्री अरविन्द महर्षि

४६. व्यास स्मृति — ए.ए. फ्यूहर मुम्बई-१६१८

४७. वशिष्ठ धर्मसूत्र — पूना प्रकाशन-१६०५

४८. वायु पुराण — नाद प्रकाशन दिल्ली- १६८३

४६. वाल्मीकि रामायण — महर्षि वाल्मीकि

५०. शतपथ ब्राह्मण — काशी वि. सं. १६६४

५१. शुक्रनीति — कलकत्ता १६२०

५२. शुक्रनीति सार

५३. सत्यार्थ प्रकाश — दयानंद संस्थान संवत् २०२६

५४. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ — रामनारायणलाल बनीप्रसाद
इलाहाबाद- १६७१

५५. हिन्दी विश्व कोश प्रथम खण्ड — राजकमल प्रकाशन

५६. हिन्दू सभ्यता — डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी

५७. हिन्दू धर्म भाग- २ — प्रो. दास गुप्ता

५८. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर	
५६. कृष्ण और मानव सम्बन्ध	डॉ. हरीन्द्र दवे विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक वाराणसी-१६८६
६०. ओड़िया महाभारत (आदिपर्व)	प्रो. सारलादास अनुवादक डॉ. हरिश्चन्द्र मिश्र दिल्ली- १६६५
६१. गीता रहस्य	लोकमान्य तिलक
६२. रघुवंश महाकाव्य	कालिदास
६३. महाभारत के गूढ़ रहस्य	ग. व. कवीश्वर इन्दौर- २००१
६४. संस्कृत महाकाव्य की परम्परा	डॉ. केशवदास मुसलगांवकर चौखम्बा वाराणसी- १६६१
६५. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास	डॉ. कपिलदेव द्विवेदी इलाहाबाद-२००४
६६. संस्कृत साहित्य का इतिहास	डॉ. वाचस्पति गैरोला वाराणसी-१६६७
६७. महाभारत मीमांसा	पं. माधव राव सप्रे पूना-१६२०
६८. महाभारत	हनुमानप्रसाद पोद्दार गोरखपुर
६६. महाभारत	नीलकंठ (चित्रशाला प्रेस) पूना १६२६

७०. भारतीय ज्योतिष — शंकरबाल कृष्ण दीक्षित लखनऊ १६५७

७१. कृष्ण की आत्मकथा — डॉ. मनु शर्मा नई दिल्ली

७२. महाभारत तात्पर्य निर्णय — प्रो. विद्यानिवास मिश्र वाराणसी-१६६२

७३. भारत- सावित्री — वासुदेवशरण अग्रवाल प्रकाशक नई दिल्ली- २००३